

## कबीर संस्थान के नये प्रकाशन

1. **बीजक : पारख प्रबोधिनी व्याख्या** (प्रथम खण्ड : बीसवां संस्करण, द्वितीय खण्ड : अठारहवां संस्करण)—बीजक सद्गुरु कबीर की सर्वथा मौलिक एवं सर्वाधिक प्रामाणिक रचना है। मानव-जीवन के सरल व्यावहारिक पक्षों के साथ अध्यात्म और दर्शन के गूढ़ पक्षों का इसमें बहुत ही सरल, सहज तथा सटीक चित्रण किया गया है। समाज, व्यवहार, धर्म, दर्शन तथा परमार्थ की बहुत सारी शंकाओं का समाधान इसमें बहुत ही सुंदर ढंग से हुआ है। सद्गुरु कबीर ने जिस निर्भीकता के साथ मूल पद कहा है उसी निर्भीकता के साथ उसकी व्याख्या भी इस पारख प्रबोधिनी व्याख्या में की गई है। तर्कयुक्त चिंतन तथा अनेक ऐतिहासिक तथ्यों एवं साक्ष्यों के कारण वर्ण्य विषय अत्यंत सजीव बन गया है। प्रथम खण्ड, पृष्ठ 992, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ 960, मूल्य—प्रथम खण्ड 250 रु०, द्वितीय खण्ड 250 रु०।

2. **कबीर दर्शन** : लेखक—सद्गुरु श्री अभिलाष साहेब जी (दसवां संस्करण)—सद्गुरु कबीर के जीवन, दर्शन, कर्तृत्व एवं व्यक्तित्व को समझने के लिए एक मानक ग्रंथ। इसके प्रथम अध्याय बीजक मंथन में कबीर साहेब की मौलिक वाणी 'बीजक' के आधार पर पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक विषयों का विशद विवेचन तथा अनेक शंकाओं का समाधान है। दूसरे अध्याय में पारखी संतों का इतिहास तथा ग्रंथ परिचय है। तीसरे अध्याय में पारख सिद्धांत का तात्त्विक एवं वैज्ञानिक चित्रण है। चौथे अध्याय में कबीर दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन है। पांचवें अध्याय में कबीर तथा कबीरपंथ से प्रभावित संतों का परिचय है। छठे अध्याय में कबीरपंथ का इतिहास है तथा सातवें अध्याय उपसंहार में समन्वयात्मक रूप में सत्य तथा जीवन के अंतिम लक्ष्य का सारगर्भित चित्रण है। कबीर साहेब पर शोध करने वाले तथा सामान्य लोगों के लिए यह अनुपम ग्रंथ है। पृष्ठ 783, मूल्य 215 रु०।

### विशेष ध्यान शिविर

कबीर पारख संस्थान, इलाहाबाद के तत्त्वावधान में निम्न स्थलों पर निम्नांकित तिथियों पर विशेष ध्यान शिविर का आयोजन किया जा रहा है—

24 जुलाई से 30 जुलाई, 2017 : श्री कबीर संस्थान, नवापारा (राजिम), रायपुर, छत्तीसगढ़  
सम्पर्क : 08827605799, 08720893818

12 अगस्त से 19 अगस्त, 2017 : कबीर पारख संस्थान, प्रीतमनगर, इलाहाबाद  
सम्पर्क : 0532-2090366, 2090156  
09451369965, 09451059832

उक्त ध्यान शिविरों में सीमित साधकों के लिए ही व्यवस्था रहेगी। अतः कोई भी साधक किसी भी शिविर में बिना पूर्व अनुमति के न आवें। जो साधक जहां के शिविर में भाग लेना चाहें, वहां के पते पर ही संपर्क करें, अन्य स्थल पर नहीं। जो साधक ध्यान शिविर के दौरान पूर्ण मौन पालन कर सकें तथा पूरी अवधि तक रुक सकें वे ही भाग लें। ध्यान शिविर में भाग लेने वालों का शहर, बाजार जाना वर्जित रहेगा।

# कबीर पारख संस्थान, इलाहाबाद

का

## चालीसवां वार्षिक अधिवेशन

दिनांक—3-4-5 अक्टूबर 2017

दिन—मंगलवार, बुधवार, गुरुवार

क्वार शुक्ल त्रयोदशी, चतुर्दशी एवं पूर्णिमा

स्थल—कबीर आश्रम, कबीर नगर, इलाहाबाद

### निवेदन

1. पारख प्रकाश प्रतिवर्ष जनवरी, अप्रैल, जुलाई एवं अक्टूबर में प्रकाशित होता है। यदि इन महीनों की आखिरी तारीख तक आपको अंक न मिले, तो इसकी शिकायत अवश्य भेजें, ताकि आपको दूसरी प्रति भेजी जा सके। देर से शिकायत मिलने पर दूसरी प्रति भेजने में हमें काफी असुविधा होती है।

2. आशा है यह पत्रिका आपके लिए रुचिकर, ज्ञानवर्धक एवं प्रेरणादायी सिद्ध हुई होगी तथा आगे भी आप इसके ग्राहक बने रहना पसन्द करेंगे और दूसरों को भी इसके ग्राहक बनने के लिए प्रेरित करेंगे। इसे अधिक स्थायी तथा नियमित बनाने के लिए आप स्वयं इसके आजीवन ग्राहक तो बनें ही दूसरों को भी आजीवन ग्राहक बनने के लिए प्रेरित करें।

3. यदि आपका शुल्क इस अंक के साथ समाप्त हो रहा है तो अगले अंक के लिए अपना शुल्क यथाशीघ्र भेज दें, जिससे अगला अंक आपको समय से मिल सके। पत्र तथा शुल्क भेजते समय अपना ग्राहक नं० अवश्य लिखें।

एक प्रति 12.50 रुपये,

वार्षिक 50 रुपये,

आजीवन 1250 रुपये

लेख, कविता, सदस्यता-शुल्क भेजने तथा सब प्रकार के पत्र व्यवहार का पता

### पारख प्रकाश

संत कबीर मार्ग, प्रीतमनगर

इलाहाबाद-211011

फोन : (0532) 2090366, 7376786230

Vist us : [www.kabirparakh.com](http://www.kabirparakh.com)

E-mail : [kabirparakh@yahoo.com](mailto:kabirparakh@yahoo.com)

ग्राहक नं०

कबीर पारख संस्थान के लिए गुरुभूषण दास द्वारा प्रकाशित एवं इण्डियन प्रेस प्रा० लि०, पन्ना लाल रोड, इलाहाबाद से मुद्रित

## ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, एकता तथा मानव-धर्म-प्रेरक हिन्दी पत्रिका

<p>प्रवर्तक सद्गुरु श्री रामसूरत साहेब श्री कबीर मन्दिर, बड़हरा पोस्ट—महोबाजार जिला—गोंडा, उ०प्र०</p> <p>आदि संपादक सद्गुरु श्री अभिलाष साहेब</p> <p>संपादक धर्मेन्द्र दास</p> <p>आदि व्यवस्थापक प्रेम प्रकाश</p> <p>मुद्रक एवं प्रकाशक गुरुभूषण दास</p> <p>पारख प्रकाश इंटरनेट पर www.kabirparakh.com</p> <p>वार्षिक शुल्क—40.00 एक प्रति—12.50 आजीवन सदस्यता शुल्क 1250.00</p>	<h3>विषय-सूची</h3> <table border="0"> <tr> <td><b>कविता</b></td> <td><b>लेखक</b></td> <td><b>पृष्ठ</b></td> </tr> <tr> <td>कहै ज्यों रहै त्यों संत सोई</td> <td>सद्गुरु कबीर</td> <td>1</td> </tr> <tr> <td>आज के इस कलयुग</td> <td>कुमारी पविता</td> <td>32</td> </tr> <tr> <td>बोझ बागवां का</td> <td>डॉ. अमृत सिंह</td> <td>32</td> </tr> <tr> <td>रहें सद्गुरु के द्वारे में</td> <td>धीरज कुमार</td> <td>37</td> </tr> <tr> <td>वृद्धाश्रम</td> <td>श्री मधुप पांडेय</td> <td>37</td> </tr> <tr> <td>मानव ही सर्वशक्तिमान</td> <td>धीरज कुमार</td> <td>41</td> </tr> <tr> <td><b>स्तंभ</b></td> <td></td> <td></td> </tr> <tr> <td>पारख प्रकाश / 2</td> <td>व्यवहार वीथी / 17</td> <td>परमार्थ पथ / 29</td> </tr> <tr> <td>बीजक चिंतन / 42</td> <td></td> <td></td> </tr> <tr> <td><b>लेख</b></td> <td></td> <td></td> </tr> <tr> <td>अनभै सांचा</td> <td>श्री रामचन्द्र तिवारी</td> <td>6</td> </tr> <tr> <td>लोक जीवन में संत कबीर</td> <td>श्री धर्मदास</td> <td>11</td> </tr> <tr> <td>कल्याण</td> <td>कल्याण</td> <td>20</td> </tr> <tr> <td>खामोशी से अपनी अदालत जारी रखें</td> <td>श्री के.पी. पाण्डेय</td> <td>21</td> </tr> <tr> <td>हर क्षण दर्शन होता है</td> <td>श्री बरसाइत दास महंत</td> <td>31</td> </tr> <tr> <td>कबीर की सहज साधना</td> <td>विवेक दास</td> <td>38</td> </tr> <tr> <td>घर की साधना</td> <td>भूपेन्द्र दास</td> <td>44</td> </tr> <tr> <td>आओ मरना सीखें</td> <td>श्री विमलनाभ श्रीवास्तव</td> <td>49</td> </tr> <tr> <td>धोखेबाज को प्रणाम</td> <td>श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'</td> <td>51</td> </tr> <tr> <td>संत मिलन सम सुख जग नाही</td> <td>श्री शिव प्रसाद मिश्र</td> <td>53</td> </tr> <tr> <td>साँचे श्राप न लागे</td> <td></td> <td>55</td> </tr> <tr> <td><b>कहानी</b></td> <td></td> <td></td> </tr> <tr> <td>आखिरी पारी</td> <td>श्री भावसिंह हिरवानी</td> <td>33</td> </tr> </table>	<b>कविता</b>	<b>लेखक</b>	<b>पृष्ठ</b>	कहै ज्यों रहै त्यों संत सोई	सद्गुरु कबीर	1	आज के इस कलयुग	कुमारी पविता	32	बोझ बागवां का	डॉ. अमृत सिंह	32	रहें सद्गुरु के द्वारे में	धीरज कुमार	37	वृद्धाश्रम	श्री मधुप पांडेय	37	मानव ही सर्वशक्तिमान	धीरज कुमार	41	<b>स्तंभ</b>			पारख प्रकाश / 2	व्यवहार वीथी / 17	परमार्थ पथ / 29	बीजक चिंतन / 42			<b>लेख</b>			अनभै सांचा	श्री रामचन्द्र तिवारी	6	लोक जीवन में संत कबीर	श्री धर्मदास	11	कल्याण	कल्याण	20	खामोशी से अपनी अदालत जारी रखें	श्री के.पी. पाण्डेय	21	हर क्षण दर्शन होता है	श्री बरसाइत दास महंत	31	कबीर की सहज साधना	विवेक दास	38	घर की साधना	भूपेन्द्र दास	44	आओ मरना सीखें	श्री विमलनाभ श्रीवास्तव	49	धोखेबाज को प्रणाम	श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	51	संत मिलन सम सुख जग नाही	श्री शिव प्रसाद मिश्र	53	साँचे श्राप न लागे		55	<b>कहानी</b>			आखिरी पारी	श्री भावसिंह हिरवानी	33
<b>कविता</b>	<b>लेखक</b>	<b>पृष्ठ</b>																																																																							
कहै ज्यों रहै त्यों संत सोई	सद्गुरु कबीर	1																																																																							
आज के इस कलयुग	कुमारी पविता	32																																																																							
बोझ बागवां का	डॉ. अमृत सिंह	32																																																																							
रहें सद्गुरु के द्वारे में	धीरज कुमार	37																																																																							
वृद्धाश्रम	श्री मधुप पांडेय	37																																																																							
मानव ही सर्वशक्तिमान	धीरज कुमार	41																																																																							
<b>स्तंभ</b>																																																																									
पारख प्रकाश / 2	व्यवहार वीथी / 17	परमार्थ पथ / 29																																																																							
बीजक चिंतन / 42																																																																									
<b>लेख</b>																																																																									
अनभै सांचा	श्री रामचन्द्र तिवारी	6																																																																							
लोक जीवन में संत कबीर	श्री धर्मदास	11																																																																							
कल्याण	कल्याण	20																																																																							
खामोशी से अपनी अदालत जारी रखें	श्री के.पी. पाण्डेय	21																																																																							
हर क्षण दर्शन होता है	श्री बरसाइत दास महंत	31																																																																							
कबीर की सहज साधना	विवेक दास	38																																																																							
घर की साधना	भूपेन्द्र दास	44																																																																							
आओ मरना सीखें	श्री विमलनाभ श्रीवास्तव	49																																																																							
धोखेबाज को प्रणाम	श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	51																																																																							
संत मिलन सम सुख जग नाही	श्री शिव प्रसाद मिश्र	53																																																																							
साँचे श्राप न लागे		55																																																																							
<b>कहानी</b>																																																																									
आखिरी पारी	श्री भावसिंह हिरवानी	33																																																																							

### कृपया ध्यान दें

हमारा प्रयास रहा है कि कम से कम मूल्य पर हम अपने पाठकों को सद्गुरु कबीर के विचारों से अवगत कराते रहें, इसलिए 'पारख प्रकाश' के शुल्क में कई वर्षों से कोई वृद्धि नहीं की गयी थी, परंतु इधर कागज की कीमत में अत्यधिक बढ़ोत्तरी होने के कारण मजबूर होकर हमें 'पारख प्रकाश' के शुल्क में वृद्धि करना पड़ रहा है। आशा है आप सबका प्रेम एवं सहयोग पूर्ववत् हमें मिलते रहेंगे। इस अंक के साथ 'पारख प्रकाश' का शुल्क निम्न प्रकार से रहेगा—

एक प्रति : 12.50

वार्षिक शुल्क : 50.00

आजीवन शुल्क : 1250.00



सद्गुरवे नमः

को हिन्दू को तुरुक कहावै,  
एक जिमी पर रहिये  
—सन्त कबीर



खोया कहै सो बावरा, पाया कहै सो कूर।  
खोया पाया कुछ नहीं, ज्यों का त्यों भरपूर॥ कबीर साखी॥

वर्ष ]

इलाहाबाद, आषाढ, वि सं , जुलाई , सत्कबीराब्द

[अंक

## कहै ज्यों रहै त्यों संत सोई

कहैं कबीर तू साधु गुरु सेइ ले, दया के तख्त पर बैठ भाई।  
ग्यान के महल में सकल सुख साहिबी, साध संगति मिले भेद पाई॥  
भेद पाये बिना भर्म भागै नहीं, भर्म जंजाल धरि काल खाई।  
साँच और झूठ को परखि तहकीक करि, संत जन जौहरी भला भाई॥  
प्रगट परतच्छ है साँच सोइ जानिये, दृष्टि ना परै सो झूठ झाँई।  
बड़ी मरजाद पाखंड की जगत में, साँच के कहत ही कलह होई॥  
चीन्हि साहिब परै काज तबही सरै, परम आनंद बड़ भाग सोई।  
सिफत बहुतै सुनी अजब दुलहा बना, बिरहनी बिरह गुन बहुत गाई॥  
दरस बिन परस बिन आस पूजै नहीं, नीर बिन प्यास कबहूँ न जाई।  
नीर नियरे हुता प्यास भइ दूर की, मर्म जाने नहीं जुगत कोई॥  
काँच के महल में भूसि कुत्ता मरा, अपनी छाँह को आप धाई।  
देखु दिबि दृष्टि यह सृष्टि जहँड़े गई, मड़ि रहा धोख सब घट्टु माहीं॥  
मरकट मूँठि गहि आप छोड़ै नहीं, फँसि रहा मूढ़ जम फाँस माही।  
देखि के केहरी आपनी प्रतिमा, पड़ा है कूप में प्रान खोई॥  
कहैं कबीर यह भर्म है दूसरा, मर्म जानै नहीं अंध लोई।  
करतूत बहुतै कहै रहनि में ना रहै, कहै ज्यों रहै त्यों संत सोई॥

### हीरे के अनेक पहल

हीरे के अनेक पहल होते हैं, परंतु कोई पहल अपने आप में संपूर्ण हीरा नहीं होता वह तो हीरा के मात्र एक अंश को प्रदर्शित करता है। यदि कोई अपने सामने दृश्यमान पहल को ही संपूर्ण हीरा मानकर मात्र उसी का ही वर्णन करने लग जाये तो उसका वह वर्णन अधूरा और एकांगी ही रहेगा। यद्यपि हीरा का हर पहल पूर्ण ज्योतिमय होता है, फिर भी वह पूर्ण हीरा न होकर उसका एक अंश मात्र ही होता है। यही बात महापुरुषों के जीवन के संबंध में भी लागू होती है। उनके जीवन के भी अनेक पहल-पक्ष होते हैं। उनके किसी एक पहल-पक्ष को ही सत्य मानकर उनको उसी तक सीमित कर देना और शेष पक्ष को नजरअंदाज कर देना या गौण बना देना उनके साथ अन्याय करना होगा।

एक गांव में से होकर एक हाथी गुजरा। गांववालों ने पहले कभी हाथी देखा नहीं था। इतना बड़ा डीलडौल, शरीर वाले प्राणी को देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। गांव भर में हाथी की चर्चा होने लगी। चर्चा सुनकर गांव में रहने वाले कुछ अंधे व्यक्ति भी हाथी देखने गये। अंधे किसी चीज को भला देख कैसे सकते हैं। वे तो उसे छू-टटोलकर उसका एक अनुमान-ज्ञान ही कर सकते हैं जैसे वह चीज गोल, चिपटी, आयताकर, वर्गाकार, दुबली-पतली, गरम, ठंड आदि है। जब अंधे हाथी देखकर वापस आये और इकट्ठे हुए तब परस्पर चर्चा करने लगे कि हाथी कैसा है। एक ने कहा कि हाथी तो बिलकुल दीवाल जैसा है क्योंकि उसने हाथी के पेट को छूकर देखा था। दूसरे ने कहा—तुम्हारा कहना गलत है। हाथी तो बिलकुल मोटे गोल खंभे के समान है, क्योंकि उसने हाथी के पैर को छूकर देखा था। तीसरे ने दोनों का प्रतिवाद करते हुए कहा कि हाथी बिलकुल सूप जैसा है। उससे भिन्न नहीं,

क्योंकि उसने हाथी के कान छूकर देखा था। चौथे ने कहा—तुम सबका कहना गलत है। हाथी मोटे रस्से के समान है, क्योंकि वह हाथी की पूंछ छूकर देखा था। चारों अपने कथन को सच मानकर परस्पर झगड़ने लगे। उन चारों अंधों में से किसी का कथन न सर्वथा सच था न सर्वथा झूठ, किन्तु सबका कथन सापेक्ष सच और सापेक्ष झूठ था। निरपेक्ष सच यह है कि सबकी समग्रता में हाथी है। इतना ही नहीं, हाथी दीवाल, खंभा, सूप, रस्सा जैसे के अतिरिक्त और भी बहुत-कुछ-जैसा है।

सद्गुरु कबीर का व्यक्तित्व और कर्तृत्व इतना आकर्षक और चुंबकीय रहा है कि सभी वर्ग के विभिन्न स्वभाव, संस्कार, मान्यताएं एवं विचार सरणी के गृहस्थ, विरक्त, साधु, संत, गरीब-अमीर, राजा-रंक उनसे जुड़ते गये और उनका ही होकर रह गये। जो उनका होकर नहीं रह सके, वे भी उनके प्रभाव से अछूते रह नहीं सके। सभी ने अपने-अपने ढंग से उनके व्यक्तित्व-कर्तृत्व का आकलन किया और सभी ने अपने-अपने ढंग से उनके बारे में कहा और लिखा और आज भी लिखते जा रहे हैं। जिसने जैसा लिखा उसको ही सच माना और दूसरों के लिखे को झूठा या एकांगी मानकर उसका खंडन भी किया। यह खंडन-मंडन की प्रक्रिया आज भी चल रही है।

साधकों-संतों की दृष्टि में कबीर सिद्ध साधक एवं संत शिरोमणि हैं तो अवधूतों की दृष्टि में पक्के अवधूत, योगियों की दृष्टि में महायोगी हैं तो सूफियों की दृष्टि में महान सूफी, वेदांतियों की दृष्टि में पक्के वेदांती हैं तो वैष्णवों की दृष्टि में परम वैष्णव, विरक्तों की दृष्टि में वे महा विरक्त, वैराग्य के मूर्तिमंत स्वरूप हैं तो गृहस्थों के लिए गृहस्थों के महान आदर्श, अध्यात्मवादियों के लिए पक्के अध्यात्मवादी हैं तो समाजसुधारकों के लिए महान समाजसुधारक और समाजवादियों के लिए समाजवादी, कवियों के लिए महाकवि हैं तो व्यंग्यकारों के लिए व्यंग्य के आचार्य, आर्यसमाजियों की दृष्टि में आर्यसमाजी हैं तो सुधारवादियों-सत्यशोधकों की दृष्टि

में पाखण्डों के विध्वंसक महान सत्यशोधक। प्रश्न यह है कि कबीर क्या नहीं थे और क्या नहीं हैं, परंतु यह भी भूलना नहीं चाहिए कि कबीर इनमें से सब कुछ होते हुए भी कुछ नहीं थे और कुछ नहीं होते हुए भी सब कुछ थे। कबीर केवल कबीर थे, कबीर के अतिरिक्त और कुछ नहीं। कबीर को पूरा समझने के लिए तो कबीर ही बनना होगा।

दुनिया उतनी ही नहीं है जितनी हमें अपनी आंखों से दिखाई पड़ती है, जितना-जितना हम आगे बढ़ते जायेंगे दुनिया की विशालता उतनी-उतनी दिखाई पड़ती जायेगी और समझ में आती जायेगी। इसी प्रकार कबीर को समझने के लिए यदि हम कबीर न बन पायें तो कम से कम सारे आग्रहों एवं पकड़ को छोड़कर निष्पक्ष तो बनें। इतना तो साफ है कि कबीर को न हिन्दू बनकर समझा जा सकता है और न मुसलमान बनकर। इसी प्रकार कबीर को न ब्राह्मण बनकर समझा जा सकता है और न शूद्र और दलित बनकर। यदि कबीर को समझना है तो सिर्फ और सिर्फ आदमी-इंसान-मनुष्य बनना होगा, क्योंकि कबीर न हिन्दू थे न मुसलमान, न ब्राह्मण थे न शूद्र; कबीर केवल कबीर थे और आदमी-इंसान थे। किसी आदमी को पूरा का पूरा आदमी बनकर ही समझा जा सकता है, हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण-शूद्र, दलित-ललित, सवर्ण-अवर्ण बनकर नहीं। दुर्भाग्य से जिंदगी भर आदमी बनकर जीने वाले और आदमियत की वकालत करने वाले कबीर को आज आदमी न रहने देकर उन्हें हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण-शूद्र, दलित-ललित सिद्ध करने की पुरजोर कोशिश की जा रही है और ऐसा करने वाले दावा कर रहे हैं कि हम ही कबीर को सच्चे ढंग से समझ सके हैं। जिंदगी भर आदमी को आदमी से जोड़ने वाले कबीर को बांटने की और उन पर अपना एकाधिकार सिद्ध करने की कोशिश की जा रही है। फिर भी दावा यह कि हम कबीर के सच्चे उत्तराधिकारी हैं।

*जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिये ज्ञान।  
मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान।।*

*ना मैं हिन्दू ना मैं तुरुक, ना जैनी रंगरेज।  
सुमन समारत रहत नित, अखिल बिहारी सेज।।  
हिन्दू कहौं तो मैं नहीं, मुसलमान भी नाहि।  
पाँच तत्त्व का पूतरा, गैबी खेलै माहि।।  
एकै त्वचा हाड़ मल मूत्रा, एक रुधिर एक गूदा।  
एक बून्द से सृष्टि रची है, को ब्राह्मण को शूद्रा।।*

*'हिन्दू तुरुक झूठ कुल दोऊ' तथा 'हिन्दू तुरुक न कोई'*

आदि कहने वाले तथा ब्राह्मण-शूद्र, हिन्दू-मुसलमान दोनों को झूठ कहने वाले कबीर को किसी विधवा ब्राह्मणी की संतान कहकर हिन्दू घोषित करना, या जन्मजात मुसलमान-दलित घोषित करना कबीर के साथ-साथ मानवता का और अपनी विद्वता का अपमान करना है। कबीर पर जन्मजात हिन्दू या मुसलमान की छाप लगाने वाले विद्वान न मानवता के साथ न्याय कर रहे हैं और न अपनी विद्वता के साथ।

प्रकृति तो किसी को हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण-शूद्र, सवर्ण-अवर्ण बनाकर पैदा नहीं करती, वह तो मनुष्य को केवल मनुष्य के रूप में पैदा करती है, परंतु मनुष्य अपनी मनुष्यता से इतनी दूर चला गया है कि वह न तो स्वयं मनुष्य बनकर जी पाता है, जीना भी नहीं चाहता और न ही दूसरों को मनुष्य बनकर जीने देना चाहता है। वह किसी मनुष्य का मूल्यांकन मनुष्य के रूप में न कर उस पर कोई-न-कोई लेबल लगाकर करता है और उसकी वास्तविकता से दूर तो चला ही जाता है उसकी वास्तविक देन से भी वंचित रह जाता है। कबीर के साथ भी यही हो रहा है।

यहां हमें एक बात अच्छी तरह ध्यान में रखना होगा कि धर्म और ईश्वर के नाम पर तमाम तरह के पाखण्ड, अंधविश्वास, चमत्कार, मिथ्या महिमा आदि का भ्रमजाल फैलाकर सामान्य जनता को गुमराह कर उनका हर तरह से शोषण करने वाले पण्डे-पुरोहित, मुल्ला-मौलवी को खुलकर फटकारने वाले कबीर के मन में किसी के लिए रंचमात्र द्वेष या वैरभाव नहीं था। प्रेम का पाठ पढ़ने-पढ़ाने वाले के मन में किसी के लिए द्वेष या वैर भाव हो भी कैसे सकता है। यह नहीं

भूलना चाहिए कि कबीर सिर्फ पाखण्ड के विरोधी हैं न कि किसी व्यक्ति या जाति, मजहब के विरोधी। कबीर न किसी के पक्षधर हैं न किसी के विरोधी। यदि कबीर किसी के पक्षधर हैं तो सत्य और मानवता के तथा यदि विरोधी हैं तो असत्य और पाखण्ड के। कबीर को किसी विशेष जाति-वर्ण, मत-मजहब का विरोधी बताना अपनी छिछली और दूषित मानसिकता को प्रकट करना है।

कबीर जब किसी को हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण-शूद्र मानते ही नहीं तब उनको हिन्दू-मुसलमान विरोधी या 'ब्राह्मण ही सब कीन्हीं चोरी, ब्राह्मण ही को लागल खोरी' जैसी पंक्तियों के आधार पर ब्राह्मण विरोधी बताना क्या एकांकी दृष्टि और कबीर के साथ अन्याय करना नहीं है। यदि 'ब्राह्मण ही सब कीन्हीं चोरी', 'संतों पांडे निपुण कसाई' आदि जैसी पंक्तियों के आधार पर कबीर ब्राह्मण-विरोधी हैं तो क्या 'ये कलि गुरु बड़े परपंची', 'गुरुवा तो सस्ते भये', 'घर-घर मंतर देत फिरत हैं', 'अहै कसाई छुरी हाथा', आदि जैसी पंक्तियों के आधार पर कबीर को गुरु विरोधी कहा जायेगा, जबकि वे गुरु को सर्वोपरि पूज्य मानते हैं।

यह कहना कि कबीर एक संत थे इसलिए उनकी वाणियों का आध्यात्मिक रस ही आस्वाद्य होना चाहिए और उनकी वाणियों में जो समाज सुधार की बातें हैं वे फोकट का माल हैं कबीर को काटकर और बांटकर देखना है, तो दूसरी तरफ यह कहना कि कबीर का जो समाज सुधारक रूप है वही उनका मुख्य रूप है और उनका साधक-संत रूप गौण है, उनका तो एकमात्र उद्देश्य समाज के दबे-कुचले, उपेक्षित-शोषित वर्ग को हाशिये से ऊपर उठाकर मुख्य धारा में लाना था और इसी के लिए वे आजीवन जूझते रहे फिर उन्हें एकांत में बैठकर ध्यान-चिंतन करने एवं अध्यात्म-साधना करने से क्या प्रयोजन हो सकता है, यह भी कबीर को काटकर और बांटकर देखना है।

कहा जाता है कि सच्चे आध्यात्मिक चिंतक-साधक को कभी समाज-सुधार की चिंता नहीं होती

और न वे इसके लिए प्रयास ही करते हैं, क्योंकि जिसे अपनी मुक्ति की चिंता है, जो निरंतर उसके लिए ही प्रयासरत है उसके पास इतनी फुरसत कहां कि वे समाज-सुधार के लिए प्रयास करें और जो समाज सुधार के लिए संघर्षरत हैं, जो समाज में परिवर्तन लाना चाहते हैं वह कभी सच्चा आध्यात्मिक साधक नहीं हो सकता। उसके मन में तो एकांत क्षण में भी समाज के सबसे निचली सीढ़ी पर खड़े व्यक्ति की चिंता सताती रहती है कि कैसे वह समाज की मुख्य धारा से जुड़े और कैसे वह मानवीय गरिमा प्राप्त कर मानव-समाज में मानव बनकर जी सके। उक्त दोनों बातें अपनी जगह पर सही होते हुए भी कुछ ऐसे युगद्रष्टा महापुरुष होते हैं जो आध्यात्मिक साधक और समाज सुधारक दोनों भूमिका का निर्वहन एक साथ करते हैं। महावीर, बुद्ध, कबीर ऐसे ही पुरुष थे। हां, ऐसे महापुरुषों का समाजसुधार वैचारिक रूप से होता है और मंथर गति से होता है, किन्तु उसका प्रभाव स्थायी होता है।

कबीर की जो वाणियां आज हमें उपलब्ध हैं वह कविता-पद्य के रूप हैं। कविता-पद्य की विशेषता यह होती है कि एक तो इससे कथन में लालित्य आ जाता है, जो श्रोताओं के मन को मोह लेता है और दूसरी बात यह कि इसमें बहुत थोड़े में बहुत सारी बातें कह दी जाती हैं। कबीर ने अपनी बातें कविता में जरूर कही हैं परंतु उनका उद्देश्य कविता करना या कवि कहलाना नहीं था, अपितु उनका उद्देश्य अपनी बात जनता तक पहुंचाना था। एक संदेश देना था। उनकी कविता और उनका संदेश दोनों को एक साथ देखना होगा। उनकी कविता में रस, अलंकार की कमी बताकर उनके संदेश-कथन पर ध्यान न देना, उसको गौण बना देना या मात्र उनके संदेश-कथन को ही महत्त्व देकर उनकी कविता पर ध्यान न देना, अपने पूर्वग्रह, पक्षपात को प्रदर्शित करना है। कबीर की कविता में रस-अलंकार की कमी बताने वाले यह भूल जाते हैं कि कबीर जब आपके किसी शास्त्रीय नियम को मानते ही नहीं, सर्वतंत्र स्वतंत्र होकर अपनी बात कहते

हैं तब वे रस-अलंकार के चक्कर में पड़ेंगे ही क्यों। और फिर वे लिख नहीं रहे थे, कह रहे थे। जब जैसी आवश्यकता पड़ी उस ढंग से उन्होंने अपनी बात कह दी। रस-अलंकार की चिंता लेखक करते हैं न कि वक्ता उपदेशक। फिर भी यदि आप कबीर वाणी को सहृदय होकर पढ़ेंगे तो पदे-पदे आपको उसमें रस-अलंकार दिखाई पड़ेंगे और ऐसे दिखाई पड़ेंगे कि आप मुग्ध हुए बिना रहेंगे नहीं।

कबीर को निर्गुण-निराकार का उपासक बताना भी कबीर को काटकर और बांटकर देखना है। यदि आप निर्जीव चित्र या पत्थर की मूर्ति, जो न खाते-पीते हैं और न चलते-फिरते हैं, कि पूजा कर सगुण उपासक हो सकते हैं तो प्रत्यक्ष चलते-फिरते, खाते-पीते ज्ञान-गुण संपन्न मनुष्यों को देवी-देवता बताकर उनकी उपासना करने वाले एवं आजीवन मनुष्यता की वकालत करने वाले कबीर सगुण उपासक क्यों नहीं हो सकते। “कबीर जेती आतमा तेते सालिगराम’ ‘आंख न मूंदों कान न रूंधों, काया कष्ट न धारों। खुले नैन हंसि हंसि पहिचानों, सुंदर रूप निहारों।” कहकर प्राणी मात्र को भगवान-भगवती मानना, ‘गुरुगोविन्द दोऊ खड़े, काके लागू पांय। बलिहारी गुरु आपने, जिन गोविन्द दियो बताय।’ कहकर गुरु की उपासना बताना तथा ‘संत महंतो सुमिरो सोई, जो काल फांस ते बांचा होई।” कहकर प्रत्यक्ष विराजमान संत-महंत की उपासना बताना निर्गुण उपासना है या सगुण उपासना सहज समझा जा सकता है।

कबीर न अपने को सगुण-साकार का उपासक बताते हैं न निर्गुण-निराकार का। वे तो मात्र सत्य और मानवता के उपासक हैं। उनका उपास्य आकाश-पाताल में नहीं है, किन्तु प्रत्यक्ष है। कबीर को किसी एक घेरे में सीमित नहीं किया जा सकता। वे सगुण को भी मानते हैं और निर्गुण को भी। और दोनों को छोड़कर आगे निकल जाते हैं। उनकी निम्न साखी से इस बात को अच्छी तरह समझा जा सकता है—

*सरगुण की करि सेवा, निरगुण का करु ज्ञान।*

*सरगुण निरगुण से परे, तहां हमारा ध्यान॥*

धरती (सांसारिकता-प्रपंच) को छोड़कर आकाश-अधर (मन की निर्मलता) में प्रेम की मड़ैया छाकर तथा ज्ञान-सरोवर की शून्य-शिला (मन की निर्विचार दशा, संकल्प शून्यता) पर अचल जमाकर तथा चंदन की डाल (स्वरूपस्थिति) पर आरूढ़ होकर ‘हमन हैं इश्क मस्ताना, हमें दुनिया से यारी क्या’ तथा ‘मन मस्त हुआ तब क्या बोले’ कहने वाले कबीर संसार से उदास नहीं थे और न सामाजिक विषमता, भेदभाव, धार्मिक पाखण्ड, कुरीतियों से आंख मींचकर चुप कहीं बैठ गये थे। अध्यात्म के उच्चतम शिखर पर आरूढ़ (कबीर का घर शिखर पर) होकर तथा स्वरूपस्थिति की मस्तानगी में मस्त होकर भी वे अपने समय के अन्य समाज-चिंतकों तथा सुधारकों की अपेक्षा समाज से ज्यादा जुड़े हुए थे। और सामाजिक विषमता, भेदभाव, कुरीतियों, पाखण्ड को दूर कर मानवीय प्रेम, समता, एकता स्थापित करने के लिए और मनुष्य कैसे मनुष्य बनकर जीये और दूसरे मनुष्य के साथ मनुष्यता का व्यवहार करे इसके लिए आजीवन जूझते रहे।

सत्य-तथ्य के निरूपण के लिए श्रद्धा और तर्क के साथ निष्पक्षता की महती आवश्यकता है। निष्पक्षता के बिना कोई भी आलोचना सही नहीं होती। यह निष्पक्षता ही है जिसने कबीर के व्यक्तित्व को ऐसा आकर्षक एवं चुंबकीय बना दिया था कि विभिन्न स्वभाव, संस्कार, विचार, रीति-रिवाज, दार्शनिक सिद्धान्त, मान्यता के साधु-संत-भक्त, गृहस्थ-विरक्त उनसे जुड़ते गये, यहां तक परस्पर विरोधी स्वभाव, संस्कार, सिद्धान्त एवं मान्यता वाले भी। इसलिए कबीर को समझने के लिए उसी निष्पक्षता की जरूरत है जैसी निष्पक्षता कबीर के पास थी। कम से कम हम अपनी मानसिकता को कबीर पर थोपने का प्रयास न करें। निष्पक्ष होकर ही हम कबीर को ठीक से समझ और जी सकते हैं और कबीर के साथ जुड़कर कबीर के मिशन को पूरा करने में अपना योगदान दे सकते हैं।

—धर्मेन्द्र दास



## अनभै सांचा

लेखक—श्री रामचन्द्र तिवारी

भारतीय धर्म-साधना में ज्ञान के तीन स्रोत माने जाते हैं। (1) आप्तज्ञान या शब्द-प्रमाण-ज्ञान, (2) गुरु-प्रदत्त-ज्ञान, (3) अनुभव या स्व-संवेद्य-ज्ञान। मध्यकाल के निर्गुण संत शब्द-प्रमाण या पुस्तकीय ज्ञान पर विश्वास नहीं करते थे। उनके लिए प्रस्थान-त्रयी प्रमाण नहीं थी। वे गुरु-प्रदत्त-ज्ञान और अनुभव-ज्ञान को प्रमाण मानते थे। अनुभव-ज्ञान को स्व-संवेद्य-ज्ञान भी कह सकते हैं। कबीर ने 'अनुभव' शब्द को तीन अर्थों में प्रयुक्त किया है। 'अनुभव' अर्थात् 'अनुभूति'। अनुभव > अनभै = निर्भय। अनुभव > अनभव = अघटित। 'स्वसंवेद्य' को भी उन्होंने दो अर्थों में प्रयुक्त किया है। स्वसंवेद्य = स्वानुभूति से ज्ञात। स्व-संवेद्य = सूक्ष्मवेद = सूक्ष्मवेद = प्रचलित चारों वेदों के ज्ञान से अधिक सूक्ष्म ज्ञान। 'सांचा' शब्द का प्रयोग उन्होंने प्रायः 'सत्य' के अर्थ में किया है। 'कबीर ग्रन्थावली' में एक पूरा 'अंग' ही 'सांच को अंग' है। जहां तक 'अनभैसांचा' दोनों पदों के एक साथ प्रयोग का प्रश्न है, मेरे देखने में नहीं आया। 'अनभै' पद का प्रयोग कई जगह मिलता है।

(1) अनभै कथा कवन सों कहिए, है कोई चतुर बावेकी।

—ग्रंथा.ना.प्र.स. पद—8

(2) संतो सो अनभै पद गहिए।

कला अतीत आदि निधि निरमल ताकूँ सदा विचारत रहिए।

—कबीर समग्र, भाग 1, पद 157

(3) अमृत बरसै हीरा निपजै, घंटा पड़ै टकसाल।

कबीर जुलाहा भया पारखू अनभै उतरया पार।।

—ग्र.ना.प्र. स. 166

इसी प्रकार 'सांचा' शब्द का प्रयोग भी कई अवसरों पर किया गया है—

(1) लेखा देणा सोहरा, जे दिल सांचा होई।

उस चंगे दीवान में, पला न पकड़ै कोई।।

—क.ग्रं.ना.प्र.सं./पृ. 42

(2) कबीर लज्या लोक की, सुमिरै नहीं सांच।

जानि बूझि कंचन तजै, काठा पकड़ै कांच।।

—वही, पृ. 43

(3) सांच बरोवरि तप नहीं, झूठ बरोवरि पाप।

जाके हिरदै सांच है, ताके हिरदै आप।।

—क.ग्रं. पारसनाथ तिवारी, पृ. 187

'अनभै' और 'सांच' दोनों पद एक साथ प्रयुक्त चाहे न हुए हों, इसमें सन्देह नहीं है कि 'कबीर' 'अनुभव के सत्य' को ही प्रमाण मानते थे। और जिस तत्त्व का साक्षात्कार अनुभव के बल पर करते थे उसे 'निर्भय' होकर, डंके की चोट कहते थे। उन्होंने दूसरे शब्दों का प्रयोग करके भी इसी सत्य को बार-बार प्रकट किया है। उन्होंने कहा है 'जगभव का गावना क्या गावै, 'अनुभव गावै', सो रागी है।' 'परचा कौ अंग' में भी वे परमतत्त्व के साक्षात्कार की बात करते हैं। एक तरह से देखा जाय तो कबीर की साखियां उसी सत्य की अभिव्यक्ति हैं जिसका कबीर ने साक्षात्कार किया था। स्वयं देखा था। जिसके वे साक्षी थे। ऐसे साक्षात्कार करने वालों की एक परम्परा थी। सिद्ध और नाथ भी अनुभव के सत्य को प्रमाण मानते थे। वे भी शब्द-साधक थे। आचार्य द्विवेदी ने अपनी 'सहजसाधना' वाली पुस्तक में सबद-साधकों की परम्परा को 'अनभै पंथ' कहा है। वे कहते हैं— 'अनुभवैकगम्य मार्ग को 'अनभै पंथ' कहते हैं।' इसे ही उन्होंने 'अनभै सांच पंथ' भी कहा है। इस क्रम में उन्होंने 'भृगुवल्ली' की कहानी उद्धृत की है। भृगु ने अपने पिता वरुण से ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त की। वरुण ने उनसे 'तप' करने को कहा। भृगु बार-बार तपस्या करते रहे और क्रमशः तत्त्वों के ज्ञान अन्न, प्राण, मन, विज्ञान (बुद्धि) से आगे बढ़ते रहे और पांचवीं बार उन्होंने पिता को सन्तुष्ट करते हुए कहा— 'आनन्द' ही 'ब्रह्म' है। उनका यह ज्ञान अनुभव-सत्य

था। इस अनुभूत सत्य पर पारम्परिक धर्मग्रन्थों और रूढ़ आचार-विचार पर निष्ठा रखने वाले विश्वास नहीं करते थे। वे अनुभव के मार्ग को सन्देह की दृष्टि से देखते लगते हैं। वे आप्तवाक्य या पंडितों द्वारा लिखित पुस्तकों पर अधिक निर्भर करते हैं। उनकी दृष्टि में अनुभव-शक्ति क्या ठीक है? इस प्रकार सन्देह करने वाला बार-बार अनुभव के मार्ग को परखते हुए जिस बिन्दु पर जाकर पूर्णतः सन्तुष्ट हो जाता है, विश्वास के मार्ग पर चलने वाले उसी अनुभव-बिन्दु पर लब्ध सत्य के प्रति शंकालु हो जाते हैं।

आचार्य द्विवेदी सन्तों के 'अनुभव-सांच पंथ' को दोनों के बीच सन्तुलन कायम करने वाला मानते हैं। उन्होंने कहा है—'दोनों के मध्य में कोई मार्ग होना चाहिए। मुझे लगता है कि संत लोग जिसे 'अनभै सांच' पंथ कहते हैं, उसमें इस समस्या का समाधान है।' (ह.प्र.द्वि.ग्रं. 5, पृ. 130) 'अनुभव सत्य' का सिद्धान्त एक प्रकार से श्रद्धा और तर्क, विश्वास और परीक्षण दोनों के सामंजस्य का मार्ग है।

बिना परखे, विवेक की कसौटी पर बिना कसे यदि कोई बात मान ली जाती है तो वह अंध-विश्वास की ओर ले जायेगी। इसके विपरीत कोरे तर्क पर निर्भर होकर यदि बिना किसी निष्ठा के हम 'सत्य' को जानना चाहेंगे तो किसी लक्ष्य तक पहुंच ही नहीं सकेंगे। सन्त निष्ठावादी हैं। प्रेम, विनय, श्रद्धा, अहिंसा, सच्चाई, करुणा, दया, ममता जैसे मानवीय मूल्यों के प्रति उनमें अप्रतिम विश्वास है, किन्तु वे अतर्क्य और विवेक-रहित श्रद्धा के वशीभूत होकर आचारों और रूढ़ियों के जंजाल को स्वीकार नहीं करते। वे चीजों को अपने अनुभव और विवेक की कसौटी पर परखते हैं, उसके बाद ही उन्हें स्वीकार करते हैं। मध्यकाल में जब विविध धर्म-साधनाओं के अगुवा पंडित, मौलवी, पीर, नबी, योगी, शैव, शाक्त, आदि बिना समझे-बूझे पोथियों में लिखित ज्ञान के आधार पर धर्म की व्याख्या करते हुए समाज में भेद-भाव बढ़ा रहे थे, उस समय निष्ठा और विवेक दोनों के सामंजस्य को आधार

बनाकर संतों ने जिस मनुष्य-सत्य को ऊपर किया, वह कोरे 'बुद्धिवाद' पर आधृत नहीं था। उसमें एक ओर परमतत्त्व के अस्तित्व और कर्तृत्व पर पूर्ण विश्वास था दूसरी ओर वे पंडित को सीधे सम्बोधित करते हुए कहते हैं—'पंडित! तुम जो अनेक प्रकार के 'वादों' (सिद्धान्तों) की चर्चा करते हो, वह सब झूठ है। उसके पीछे अनुभव का सत्य नहीं है। चरितार्थता नहीं है। वह कोरा कथन मात्र है। बिना समझे, बिना मर्म जाने, राम-राम रटने से मुक्ति मिलती तो दुनिया मुक्त हो गई होती। 'खाण्ड' कहने से मुंह मीठा नहीं होता। 'पावक' शब्द उच्चारण करने से पैर नहीं जलते। 'जल' शब्द के बोलने से प्यास नहीं बुझती। 'भोजन' कहने से 'भूख' नहीं मिटती। 'तोता' बार-बार राम-राम कहता है। इससे वह राम तत्त्व का ज्ञाता नहीं हो जाता। यदि किसी प्रकार वह पिंजड़े से बाहर निकल पाता है तो सीधे उड़कर जंगल में पहुंच जाता है। पीछे मुड़कर देखता भी नहीं। यदि 'धन' कहने से धन हो जाता तो संसार में कोई निर्धन नहीं होता। प्रीति तो लोग विषयों से करते हैं। माया के आकर्षण में आसक्त रहते हैं। हरिभक्तों का उपहास करते हैं और बातें ज्ञान की करते हैं। ध्यान रहे, यदि 'प्रीति' सच्ची नहीं है, तो सीधे यमपुर जाना होगा।' यह सीधी चुनौती है। 'वाक्य-ज्ञान' का स्पष्ट प्रत्याख्यान है। इसके पीछे 'प्रेम' की चरितार्थता पर अखण्ड विश्वास है। तर्क के लिए नहीं है। तर्क के पीछे आचरण का बल है। इसी प्रकार, इसी आत्मविश्वास से वे मुल्ला से कहते हैं—'हे मुल्ला, मस्जिद की ऊंची मीनार पर चढ़कर आवाज क्यों लगाते हो? अल्लाह बहरा नहीं है। वह सब कुछ जानता है। सबके हृदय की बात जानता है। जिसके लिए तुम आवाज दे रहे हो, उसे हृदय के भीतर ही देखो।' कबीर को ऐसे बाह्याचारों से चिढ़ है जिन्हें धर्म के नाम पर अनिवार्य बना दिया गया है। मुसलमानों में 'खतना' और हिन्दुओं में 'यज्ञोपवीत' ऐसे ही आचार और संस्कार हैं। ईश्वर मनुष्य को मनुष्य के रूप में पैदा करता है।

हिन्दुओं को विशेषतः द्विजों को 'यज्ञोपवीत' पहनाकर और मुसलमानों को 'खतना' करके नहीं भेजता। यह भेद यहीं पंडित और क्राजी पैदा करते हैं। कबीर क्राजी से पूछते हैं—'हे क्राजी! कुरान पढ़ते-पढ़ते कितने दिन बीत गये किन्तु तुमने उसका मर्म नहीं समझा। तुम्हें हिंसा-शक्ति प्रिय है। तुम सुन्नत करके मुसलमान बनाते हो। यह भी कोई बात हुई। यदि ईश्वर ने तुझे मुसलमान बनाया होता तो पेट में ही सुन्नत करके पैदा करता। अच्छा, यह बताओ औरत का क्या किया जाये। उसकी तो सुन्नत हो नहीं सकती। वह अर्धांगिनी होती है। इस न्याय से तो सभी मुसलमान आधे हिन्दू ही रह गये।' इसी क्रम में वे पंडित से जानना चाहते हैं कि 'यज्ञोपवीत' पहनकर जन्म से 'शूद्र' समझे जाने वाले मनुष्य को 'द्विज' बनाया जाता है। पंडित यह बताओ कि स्त्री का तो यज्ञोपवीत होता नहीं। वह तो 'शूद्रा' ही रही। जिस मनुष्य का आधा अंग 'स्त्री' 'शूद्र' ही रह गया हो, वह 'द्विज' कैसे हुआ? कबीर के इन तर्कों का अर्थ इतना ही है कि धार्मिक वेश-भूषा, आचार-विचार, रस्म-रिवाज आदि मनुष्य को मनुष्य से अलग करते हैं। मूलतः मनुष्य एक है। न हिन्दू है, न मुसलमान। न शैव है, न शाक्त। न जैन है, न बौद्ध न 'वैष्णव'। यह भेद मनुष्य कृत हैं। यदि पुस्तक ज्ञान और धार्मिक आचार-विचार इस भेद को समाप्त नहीं कर सकते, तो व्यर्थ हैं। वे बार-बार कहते हैं कि मैं सभी झगड़ों से अलग हूँ। मैंने पंडित और मुल्ला दोनों को छोड़ दिया है। मैंने इन दोनों के द्वारा लिखित विचारों को पूरी तरह अग्राह्य माना है। न मैं पूजा करता हूँ न नमाज पढ़ता हूँ। न हज की यात्रा करता हूँ, न तीर्थों में भटकता हूँ। मेरा सारा भ्रम दूर हो गया है। मैं तो एक निरंजन परम-तत्त्व को अपने हृदय में धारण करता हूँ। यह परम तत्त्व कबीर का अनुभूत है। इसे उन्होंने अनुभव की कसौटी पर परख कर स्वीकार किया है। यह उनके प्रेम का विषय है। इसे वे अपना प्रियतम मानते हैं।...वैयक्तिक स्तर पर प्रेम का यह घनत्व तर्कातीत है। इस स्तर पर कबीर ने जो कुछ अनुभव किया है, वह 'अनुभववैकगम्य' है। वह

तर्कगम्य नहीं है। बुद्धि-गम्य नहीं है। ज्ञान-गम्य नहीं है। अनुभव प्रमाण है।

'अनुभव-पद' अनुभव का सत्य है। 'अनुभव-सांचा' है। इस अनुभूति दशा में मन के सारे विकार शमित हो जाते हैं। फिर भय कैसा? चिन्ता कैसी? 'परचा कौ अंग' में कबीर ने इस अनुभूति-दशा का अनेक प्रकार से वर्णन किया है। कबीर की कठिनाई यह है कि जिस सत्य को कहना है, प्रकट करना है, वह वाणी से परे है। शब्दातीत है, फिर भी उसे इसी लौकिक वाणी, लोक-प्रचलित शब्दावली में व्यक्त करना है। इसलिए अनेक प्रकार से व्यक्त करने के बाद भी उन्हें लगता है, कुछ रह गया है। वह ठीक से व्यक्त नहीं हो पाया। इसी कशमकश में वे कहते जाते हैं। वे कहते हैं मैंने सत्य का साक्षात्कार कर लिया है। अब हमारा हृदय आनन्द के सागर से भर गया है। अब तो मैं अपने स्वामी के साथ हूँ। अब मेरे सारे पाप सहज ही शमित हो गये। कबीर का जो यह 'अनुभव का सत्य' है जो उनका स्वामी है, जो उन्हें आनन्द से भर देता है, वह उनका स्व-संवेद्य है। उनका 'संवेदन' (अनुभव) उन्हीं को हुआ है। योगियों का 'समतत्त्व' या 'शिवतत्त्व' भी स्व-संवेद्य था। लेकिन योगियों को इसके लिए आसन लगाना पड़ता था। प्राणायाम करना पड़ता था। आंख बन्द करनी पड़ती थी। कान रूंधना पड़ता था। अनेक प्रकार की कृच्छ साधनाएं करनी पड़ती थीं। कबीर ऐसा कुछ नहीं करते। उनकी समाधि सहज ही लग जाती है। उन्हें अपनी सहजचर्या के अतिरिक्त कोई साधना नहीं करनी पड़ती है। उनकी तो रहनी ही 'उन्मनी' रहनी है। वह जो कुछ करते हैं, जैसे रहते हैं, वह सब साधना ही है। कबीर का जीवन ही उनकी साधना है। जिसके जीवन में 'सत्य' चरितार्थ होता है, अर्थात् सत्य की अवधारणा जिसके जीवन से प्रमाणित होती है। जहां 'सत्य' प्रमेय है और चर्या प्रमाण, वहां अलग से कुछ करने की ज़रूरत ही क्या है?

कबीर के इस 'अनुभव-सांचा' 'अनुभव के सत्य'—या 'सत्य के अनुभव' से यूरोपीय

‘अनुभववाद’ (Empiricism) की तुलना नहीं की जानी चाहिए। यूरोपीय ‘अनुभववाद’, ‘बुद्धिवाद’ की प्रतिक्रिया में आया था। ‘बुद्धिवाद’ से तार्किक-बुद्धिवाद का अर्थ नहीं लेना चाहिए। यूरोपीय बुद्धिवाद (सत्रहवीं-अठारहवीं शती) एक तरह का ‘अन्तःप्रज्ञावाद’ है। इसे हम अन्तःप्रज्ञा (Intuition) से लब्ध निश्चयपूर्ण ज्ञान कह सकते हैं। यूरोपीय बुद्धिवादी यह मानते थे कि ज्ञान का पूर्ण आदर्श गणितीय ज्ञान में लक्षित होता है। इसे यदि हम तत्त्व-ज्ञान के क्षेत्र में प्रयुक्त करें तो हम ऐसे परिणामों तक पहुंच सकते हैं, जहां शंका के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। उदाहरण के लिए ‘त्रिभुज’ को देखकर हमारी अन्तःप्रज्ञा तत्काल निर्णय करती है कि यह तीन भुजाओं वाला है। यह अन्तःप्रज्ञात्मक ज्ञान स्वतः सिद्ध है। इसके लिए अलग से तर्क-वितर्क की ज़रूरत नहीं पड़ती। यह ज्ञान इन्द्रिय-लब्ध आलोचन (Sensation) और कल्पना-प्रसूत भ्रान्त अवधारणा दोनों से अलग है। यह निश्चयात्मक है। बुद्धिवादी अन्तःप्रज्ञा द्वारा उन अवधारणाओं को प्राप्त करते थे जो असंदिग्ध और शाश्वत होती थीं, फिर उनको सामने रखकर ‘निगमन’ (Deduction) पद्धति से आत्मा, जगत आदि के सम्बन्ध में निश्चित निष्कर्ष पर पहुंचने की कोशिश करते थे। वे यह मानकर चलते थे कि कुछ सनातन सत्य मनुष्य की बुद्धि (अन्तःप्रज्ञा) में निहित हैं। वे स्वयं सिद्ध हैं। उन्हीं के आधार पर निगमन के द्वारा हम विशेष सत्य को प्राप्त कर सकते हैं। ‘अनुभववाद’ इसे अस्वीकार करता है। उसके अनुसार कोई ज्ञान जन्मजात या अन्तःप्रज्ञात्मक नहीं होता है। सारा ज्ञान इन्द्रिय-जन्य आलोचना (Sensation) से प्राप्त होता है। वह अनुभव जन्य होता है।

वस्तुतः अन्तःप्रज्ञा जैसी कोई चीज मनुष्य में नहीं होती। जब तक इन्द्रियों द्वारा लब्ध ज्ञान की आधारभूत सामग्री न मिल जाये तब तक बुद्धि कुछ नहीं कर सकती। अनुभव द्वारा हम विशेष का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इन्हीं विशेष तथ्यों को सामने रखकर हम उद्गम

(Intuition) पद्धति से सामान्य नियमों को निर्धारित करते हैं। इस ‘अनुभववाद’ के मुख्य प्रवक्ता ‘लाक’ (1632-1704 ई.) थे। इन्होंने ‘देकार्त’ (1596-1660 ई.) के ‘बुद्धिवाद’ का विरोध किया था। यहां यह ध्यान देने की बात है कि ‘देकार्त’ गणितज्ञ थे। भौतिक शास्त्री थे। इसीलिए ‘गणित’ की पद्धति को वे दर्शन के क्षेत्र में प्रयुक्त करने की बात करते थे। ‘लाक’ अर्थशास्त्री और राजनीतिक थे। उनका झुकाव भौतिकवाद की ओर था। कबीर के लिए ये दार्शनिक पुस्तकीय ज्ञान-समृद्ध पांडित्यधर्मा होने के कारण ज्ञान कथने वाले भारतीय पंडितों जैसे ही थे। कबीर का ज्ञान इन्द्रिय संवेदन से प्राप्त विशेष अनुभव का सामान्यीकरण नहीं है। कबीर का अनुभव-सत्य आत्मा की सर्वनिरपेक्ष अनुभूति-दशा है। वहां न वेद है, न भेद, न पाप है, न पुण्य, न ज्ञान है, न ध्यान, न स्थूल है, न सूक्ष्म, न मेरू है, न भीख। वास्तविकता तो यह है कि वहां तीनों लोकों की अवधारणा भी नहीं है। उस अनुभव-सत्य को लौकिक भाषा में व्यक्त करना असंभव है। इन्द्रियबोध से प्राप्त सारा अनुभव, सापेक्ष-स्थितियों का ज्ञान कराता है। कबीर जिस तत्त्व का अनुभव कर रहे हैं उसे कैसे व्यक्त किया जाये? उसका न रूप है, न रेखा, न मुद्रा, न माया, न पर्वत शिखर है, न गहरा समुद्र, वह न धरती है, न आकाश, न सूर्य, न चन्द्र, वहां पवन का संचार भी नहीं है। वह न नाद है, न बिन्दु, वह न काल है, न काया, वह न जप है, न तप, न योग है, न ध्यान, न पूजा, वह न शिव है, न शक्ति। वह ऋक, यजु, साम और अथर्व वेद भी नहीं है, न वह व्याकरण है। कबीर के पास उसे व्यक्त करने के लिए शब्द नहीं है। कबीर इतना ही कह सकता है—‘हे गोविन्द! तू निरंजन है, निरंजन है। तेरी गति तू ही जान सकता है।’ अनुभव की इस भूमि पर यदि किसी भी दार्शनिक प्रक्रिया से पहुंचा जा सकता तो कबीर पंडितों को चुनौती ही क्यों देते? अनुभव-सत्य के इसी सर्वनिरपेक्ष बिन्दु पर पहुंचकर कबीर को यह साफ़ दिखाई पड़ता है कि धर्म के सभी ठेकेदार अपने-अपने संकीर्ण मतवाद के छोटे-छोटे दायरों में

बंधे हैं। यहीं उनकी तर्क-बुद्धि जागृत होती है जो तर्क के लिए तर्क नहीं करती वरन् विवेकहीन, असंगत और समझ में न आनेवाली रूढ़ियों को खंडित करने के लिए तर्क करती है।

अपने अनुभव-सत्य की शक्ति और उच्चतम नैतिक बोध के सहारे कबीर पंडित, मुल्ला, काजी, अवधू, शाक्त, पीर, औलिया, मुरशिद, सबकी विवेकहीनता पर प्रहार करते हैं। वे पंडित को चुनौती देते हैं कि पंडित, जब भगवान ही सृष्टि का बीज है, तो बड़ी-बड़ी पोथियों में कौन-सा ज्ञान बघारते हो। जब एक ज्योति से सब कुछ उत्पन्न हुआ है, तब यह ब्राह्मण और शूद्र का भेद कहां से आ गया? इसी प्रकार वे मुल्ला और मौलवी से पूछते हैं कि यदि खुदा मात्र मस्जिद में निवास करता है तो और मुल्क किसका है? मुरशिद को आगाह करते हैं कि 'नबी', नयनों में ही है। उसे भीतर अनुभव करने की ज़रूरत है। 'अवधू' को समझाते हैं कि वह मन को स्थिर करे और अच्छी तरह जान ले कि जिसे वह जंगलों, पहाड़ों और दुर्गम स्थलों में ढूंढता फिर रहा है, वह उसके भीतर ही है। अपनी इसी प्रखर तर्क-शक्ति के बल पर वे तीर्थ, व्रत, रोजा-नमाज़, छापा-तिलक, लुंचन-मुण्डन आदि धार्मिक कहे जाने वाले आचारों का खण्डन करते हैं। वस्तुतः उन्हें भेद-मात्र भ्रान्त प्रतीत होता है। कोई भी बाह्याचार जिसकी सहज जीवन की गति से संगति न बैठती हो, कबीर को स्वीकार्य नहीं है। कबीर के 'अनुभव सत्य' या 'अनुभव-सांचा' की दृष्टि से उनके भक्त-रहस्यवादी और तार्किक क्रान्तिकारी व्यक्तित्व में कोई अन्तर्विरोध नहीं है। सभी प्रकार की भेद-भूमियों से ऊपर सर्व निरपेक्ष अनुभव सत्य का साक्षात्कार करने वाला ही भेद, आडम्बर एवं विवेक-रहित बाह्याचार का निर्भय होकर विरोध कर सकता है। जो स्वयं भेद-भाव ग्रस्त है, कर्म-काण्ड में उलझा है, धर्म के नाम पर अमानवीय आचरण करता है, मनुष्य-मनुष्य के बीच घृणा का प्रचार करता है वह दूसरों को क्या

समझायेगा। वह किस बल पर कथनी-करनी की एकता की बात करेगा। कबीर का क्रांतिकारी अपनी भीतरी शक्ति के बल पर ही बड़े-बड़े धर्म-ध्वज धारियों को अदना आदमी समझकर उनकी उपेक्षा करता है। बेहदी मैदान में विचरण करने वाला ही हद के जीवों का तिरस्कार कर सकता है। कबीर का क्रांतिकारी अपनी आस्था में अविचल है। अपने विश्वास में अटल है और अपने विचार में दृढ़ है। वह सहज मनुष्यता को ऊपर लाकर सच्चे मानवधर्म की प्रतिष्ठा करना चाहता है।

आज यही मनुष्यता खतरे में है। घोर व्यावसायिक वृत्ति के चलते मनुष्य भी खरीद-फरोख्त की वस्तु बन गया है। विकास के नाम पर एक ओर विध्वंसक अस्त्र-शस्त्रों का अम्बार लगाया जा रहा है, दूसरी ओर सुख-सुविधा प्रदान करने वाले उपादानों का संग्रह किया जा रहा है। मनुष्य के नैसर्गिक अधिकार अब राजनीति के मोहरे बन गये हैं। मनुष्यता विध्वंसक अस्त्र-शस्त्रों और ऐश्वर्य सामग्रियों के नीचे दबी कराह रही है। आज कबीर होते तो निर्भय स्वर में कहते— 'मूर्खों, विकसित होने का दंभ पालने वालो, विवेक के बिना 'बुद्धि', 'योग' के बिना भोग, 'निवृत्ति' के बिना 'प्रवृत्ति', 'विनय' के बिना 'अहंकार', 'त्याग' के बिना 'संग्रह', 'परमार्थ' के बिना 'स्वार्थ', 'आचार' के बिना 'विचार', 'करनी' के बिना 'कथनी', 'साधना' के बिना 'शब्द', और 'आन्तरिक प्रकाश' के बिना 'बाह्य-विकास' का कोई अर्थ नहीं है। और 'सत्य' भी तभी 'सत्य' है जब वह अनुभूति का विषय या 'अनुभूत' हो। इस अनुभूत सत्य को कहने का अधिकार उसी को है जो निर्भय होकर कह सके। कहने के खतरे उठा सके। इसी खतरे को उठाते हुए कबीर ने निर्भय स्वर में कहा था—

दुई जगदीस कहां ते आए, कहु कवने भरमाया।

अल्लहराम करीमा केसो, हजरत नाम धराया।।

( 'कबीर दास : विविध आयाम' से साभार )

## लोक जीवन में संत कबीर

लेखक—श्री धर्मदास

रात में शयन और दिन में जागरण दैनिक कर्म है। औद्योगिक प्रगति के साथ सोने और जागने के समय में बदलाव हुआ है। कल-कारखाने तथा रेल-विमान आदि दिन-रात चलते हैं, अतएव हम में से अनेकों निशाचर बन गये हैं। प्रातः बिस्तर छोड़ने से लेकर रात्रि में बिस्तर पुनः पकड़ने तक हम अनेक कर्म अनिवार्य रूप से निश्चित समय पर पूरा करते हैं जिसे नित्य कर्म कहा जाता है। परन्तु लोक जीवन में अनेक कर्म ऐसे होते हैं जो अलग-अलग समाज में भिन्न-भिन्न रूप में दीखते हैं। हिन्दू प्रातःकाल शौच-स्नानादि के पश्चात् भक्तिभाव से 'ॐ नमः वासुदेवाय' 'ॐ नमः शिवाय' 'बम-बम भोले' अथवा 'सीताराम-सीताराम' या हरेराम-हरेराम गुणगुनाता मिलता है। मुसलमान 'सुभानल्लाह' कहते एवं तस्बीह फेरते हैं। बौद्ध 'बुद्धं शरणं गच्छामि' तो सिख 'वाहेगुरु सतनाम' उच्चारते हैं। ये सब कृत्य मजहब से प्रभावित हैं।

लोकजीवन में अनेक कर्म अनिवार्य रूप से समाहित हैं यथा जन्म, मुंडन, जनेऊ, खतना, कर्णबेध, फलदान, गोदभराई, विवाह, बहुभोज, अन्त्येष्टि, श्राद्ध भोज आदि जो पारम्परिक अधिक हैं और मजहबी कम। इन अवसरों पर सामाजिक स्तर एवं चलन के मुताबिक उत्सव मनाया जाता है। जिसमें घर-टोले की स्त्रियां आंगन की पृष्ठभूमि में बैठकर प्रत्येक विधि के अनुकूल अलग-अलग लोकगीत गाकर वातावरण को मनोरंजक एवं उत्सवमय बनाती हैं। इससे पुरोहित का निष्ठुर कर्मकाण्ड यजमान एवं कर्ता तक सिमट जाता है और हित-कुटुम्ब मिलकर उत्सव का आनन्द लेते हैं। इन लोकगीतों के रचनाकारों का पता नहीं चलता लेकिन दादी-पोती मिलकर गाती मिलती हैं जिससे अनुमान होता है कि पीढ़ी-दर पीढ़ी आगे बढ़ता (Carry Forward) रहता है। ऐसे लोकगीत ग्राम्य-जीवन की प्राणधारा हैं जो प्राचीन काल से अविरल प्रवाहित हैं। कहीं-कहीं कबीलाई नृत्य का समागम इनके नीरस

ग्राम-जीवन को सरस बनाते हैं। 'धोबिया गीत नृत्य' एवं 'कहरा गीत-नृत्य' काफी लोकप्रिय हुआ करते थे। 'कहरवा-धुन' को संगीतकारों ने प्रसिद्धि दिलाई है। 'कहरवा' ने संत कबीर को भी आकर्षित किया। 'कहरा' शीर्षक से 12 पद कबीर बीजक में संकलित हैं। यद्यपि कबीर साहेब अपने गम्भीर वक्तव्य के लिए विख्यात हैं परन्तु उन्होंने लोक-जीवन के अनेक रंगों को अपनी रचनाओं में समाहित करके गम्भीर विषयों को बोधगम्य बना दिया है। इसी क्रम में 'कहरा-' की तीन पंक्तियां उद्धृत हैं—

ताजी तुकीं कबहुँ न साधेहु, चढ़ेहु काठ के घोरा हो  
ताल झांझ भल बाजत आवै, कहरा सब कोइ नाचे हो  
जेहि रंग दुलहा ब्याहन आवे, दुलहिनि तेहि रंग रांचे हो।

अर्थ : तुमने जवान तुकीं घोड़े की सवारी कभी नहीं की, पर आज काठ की घोड़ी पर सवार हो गये हो। पहले राजा-जर्मींदार घोड़े-हाथी पर सवार होकर बारात में जाया करते थे। अब भी शहर के दूल्हे घोड़ी पर चढ़कर दुल्हन के घर बराती के बीच चलते हैं। दस-बीस बरस पहले गरीबों की बारात में देशी गाजे-बाजों के बीच एक व्यक्ति राजपुतानी टाट-बाट में लोकगीत के धुन पर टुमकता रहता था। उसी का दृश्य साहेब ने उतारा है।

ताल, झांझ आदि साज मनभावन बजते हुए आये हैं जिसमें कहारों के सारे कुटुम्ब की बारात नाचते हुए आ रहे हैं। जिस साज-सज्जा में सज कर दूल्हा विवाह करने पहुंचा है दुल्हन भी उसी अनुरूप से सज-धज कर तैयार हुई है।

कबीर के समय आज के विकसित शहर नहीं थे। अतएव लोक जीवन का स्वरूप ग्रामीण था। कबीर वाणी से विदित होता है कि ग्रामीण रहन-सहन की छोटी-छोटी घटना भी उनकी पारखी आंखों से छिपी नहीं रह पाती थी। इसी ग्राह्यता एवं जिज्ञासु प्रवृत्ति को

उद्घाटित करते हुए एक विद्वान लेखक की रचना 'एकतारे की आंख' नामक नाटक देखने का अवसर तीस-पैंतीस साल पहले मिला था। कबीर का लोक जीवन से घनिष्ठ रिश्ता था। तब ग्रामीणों में जातीय पेशा का चलन था। जुलाहा, कोरी, छीपी, रंगरेज-बुनकर समाज से संत कबीर की घनिष्ठता थी। अतएव इनके नाम बार-बार आये हैं। बीजक का 64 वां शब्द वस्त्र बुनने की विविध प्रक्रियाओं का विवरण प्रस्तुत करता है। जिसमें जोलहा, बीनना, ताना, अहुठा, चरखी, सरकुंडी, कठवत, मांडी, सानना, गोड़ी, मांझा, मांजना, मुररिया, पाई, भरना, बय, उबाना, करिगह, आदि शब्दों का प्रयोग करते हुए अपना मूल उपदेश कहते हैं— "जोलहा बीनहु हो हरि नामा, जाके सुर नर मुनि धरे ध्याना।"

लोक जीवन में गहरी पैठ रखने सम्बन्धी अनेक विवरण भी मिलते हैं यथा : जो चरखा जरि जाय बढ़ैया (Carpenter) ना मरे। मैं कातों सूत हजार चरखुला जिन जरै। (शब्द 69)

तथा

*खसम बिनु तेली को बैल भयो*

*बैठत नाहिं साधु की संगत, नाधे जन्म गयो।*

कहरा-2 (बीजक) में अनेक जातीय पेशा को आधार बनाकर लोक जीवन को चित्रांकित किया गया है—

*अटपट कुम्हरा करै कुम्हरैया, चमरा गांव न बांचे हो।*

*नित उठि कोरिया पेट भरतु है, छिपिया आंगन नाचे हो।*

*नित उठि नौवा नाव चढ़तु है, बेरहि बेरा बोरे हो।*

कुम्हार का कुम्हरैया-घटनिर्माण कार्य अटपटा है; वह चमड़े का गांव-शरीर बनाता है जो टिकाऊ नहीं होता। कोरी नित उठते ही अपना पेट पालने हेतु पहले चरखे का फिर छिपी का पेट भरता (वस्त्र बुनकर छिपी के लिए तैयार कर देता) है जिसकी रंगाई-छपाई के लिए छिपी कोरी के आंगन में बार-बार आता है। सबरे उठकर नित नौवा नाव पर चढ़ता है पर उसे नौका खेने का ज्ञान नहीं है और बार-बार नाव को डुबा डालता है।

ग्रामीण जीवन में गाय-भैंस दुधारू जानवर विशेष महत्त्व रखते हैं परन्तु भैंस कुबुद्धि एवं गाय सात्त्विकता का प्रतीक है। भैंस को कीचड़ में लोट-पोट पसन्द है पर गाय को छायेदार वृक्ष के नीचे बैठना प्रिय है। इन दो ग्रामीण प्रतीकों का चित्रण करते हैं संत कबीर—

*भैंसिन माहिं रहत नित बकुला, तिकुला ताकि न लीन्हा हो  
गाइन माहिं बसेउ नहिं कबहुं, कैसेक पद पहिचनबेउ हो*

(भैंसों के झुंड में ही बगुला प्रायः देखा जाता है क्योंकि भैंसों के अंगों में कीचड़ के साथ-साथ कीड़े भी आ जाते हैं जिसे खाने के लोभ से बगुला सिर से पूंछ तक उड़-उड़कर बैठता रहता है। बगुला कभी गाय के आस-पास नहीं रहता तो अच्छे गुण को कैसे पहचानेगा)

ऊपर के उदाहरण दर्शाते हैं कि कबीर का लोक जीवन से कितनी निकटता का अनुभव था तभी तो वे कह सके थे—'मैं कहता आंखिन के देखी, तू कहता कागद के लेखि।' अब यह जानने की बारी है कि लोक जीवन ने कबीर को कितना जाना-समझा तथा उसे अपनाया?

यों तो पुरोहितों ने संभ्रात समाज के लिए 40 संस्कार का विधान किया है जो जन्म से भी पहले आरम्भ होकर मरणोपरांत तक निर्देशित है। अन्त्येष्टि एवं श्राद्ध तक ही संस्कार नहीं ठहरता बल्कि वर्षों तक श्राद्ध करने का विधान है। मनु. (122/3) कहता है प्रति माह की अमावस्या की तिथि को पितृ श्राद्ध करना एक ब्राह्मण का कर्तव्य है और (123/3) में कहता है कि जो द्विज प्रत्येक अमावस्या को अपने स्वर्गीय पितरों का श्राद्ध नहीं करता वह घोर पाप का भागी होता है और उसे पश्चाताप करना पड़ता है। शास्त्रीय संस्कारों से हटकर यदि लोक जीवन में प्रचलित रीति-रिवाजों पर नजर दौड़ाये तो विवाह और मृत्यु दो ऐसे अवसर होते हैं जिन्हें सब जाति और धर्मों में विशेष महत्त्व दिया जाता है। प्रकृति में दोनों अवसर एक दूसरे के विपरीत हैं। विवाह में उत्सव की तरह भव्य समारोह होता है तो मरण शोक-विह्वल वातावरण निर्मित करता

है। विवाह में हंसी ठिठोली, रंग-रोगन, श्रृंगार, नाच-गाना, मिठाई-पकवान आदि का अतिरंजित दृश्य होता है तो मरण में रूदन-क्रन्दन, विलाप, मातम, निराशा-दुराशा एवं उलट-पलट आदि व्यतिक्रम का सृजन करता है।

कबीर साहेब का जीवन-काल साधारण नागरिकों के लिए शोषण, अत्याचार, भय एवं आतंक का पर्यायवाची कहा जा सकता है। संवत् 1375-1700 पूर्व मध्य काल एवं भक्तिकाल कहा जाता है जिसका वर्णन श्री रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में इस प्रकार है— “देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। उसके सामने ही उसके देव मन्दिर गिराये जाते थे, देवमूर्तियां तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतंत्र राज्य भी नहीं रह गये। इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के पीछे हिन्दी जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी-सी छायी रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?” (हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ.61)

15वीं शताब्दी में स्वामी रामानन्द ने बनारस में विष्णु के अवतार राम की उपासना पद्धति से रामानन्द सम्प्रदाय खड़ा किया तो बल्लभाचार्य ने कृष्णाश्रयी सम्प्रदाय। उनके मतानुसार ‘देश म्लेच्छाक्रांत है, सत्पुरुष पीड़ित हैं, एकमात्र कृष्णाश्रय में ही जीवन का कल्याण है। रामानन्द जी ने ‘सीतासमारोपित बाम भागम’ के एकल पत्नीनिष्ठ स्वरूप के लोक कल्याणकारी आदर्श की स्थापना की जिसे उत्तर भारत के जनसमुदाय ने अंगीकार किया। फलतः घर-घर में विवाह के अवसर पर वर (दूल्हा) को राम का और

दुल्हन को सीता का प्रतिरूप मानकर लोकगीतों का गायन होने लगा जो आज तक लोकप्रियता के शिखर पर है। जनमानस में रास बिहारी कृष्ण का रूप स्वीकार नहीं हुआ। क्योंकि परकीया-प्रेमसम्बन्ध समाज का आदर्श नहीं हो सकता। विवाह में कृष्ण के नाम से कोई गीत नहीं गाया जाता। जिस बात को जनसाधारण ने पकड़ा उसे धर्माचार्यों ने नहीं समझा। मन्दिरों में रास गीत होता रहा तथा राम को भी लीलाधारी रूप देने का प्रयास हुआ।

साधारण जनता को जिन बातों का दुःख था उनका सीधा सम्बन्ध दिल्ली के तख्त पर बैठे बादशाह अथवा जौनपुर या आगरा में बैठे उनके नुमाइन्दों से उतना न था, जितना अपने गांव के उस समाज से जिसका नियमन जातिधर्म के परम्परागत नियमों से होता था तथा जिसमें स्थानीय सामंत-जमींदार गांव के महतो के सहयोग से दमनकारी भूमिका निभाते थे। तत्कालीन ग्रामीण व्यवस्था में, जहां परम्परागत जातिधर्म जीवन के समस्त क्रियाकलापों का नियामक था, सुल्तानों की हैसियत एक बाहरी लुटेरे से अधिक न थी। अतएव निचले तबकों में असन्तोष और आक्रोश उच्च तबकों से कहीं अधिक व्यापक था। अतः वंचित-शोषित साधारण लोगों के लिए मृत्यु से अधिक दुखदायी परम्परागत जातिधर्म से रोज-रोज मरना था। रोज-रोज नया जन्म होता था क्योंकि कल का सूरज देख पायेगा, यह निश्चय से नहीं कह सकता था। ऐसी निराशा और हताशा की घड़ी में उत्तरभारत के क्षितिज पर काशी नगर में युगपुरुष कबीर का आविर्भाव हुआ जिसने त्रसित जनसमुदाय को जिजीविषा-जीने की कला (Desire to live) का मंत्र दिया।

जैसे पहले कहा गया कि लोक जीवन में विवाह और मरण जीवन के दो रंगों को परिमार्जित करता है। पहले में नये सृजन की नींव रखी जाती है जिसपर काया गढ़ का किला निर्मित होता है। अतः इसमें उल्लास और उमंग का संचार होता है। वहीं दूसरे में पड़ाव के अंतिम दौर का पदार्पण होता है जहां कायागढ़



का किला ध्वस्त होता है जिसकी परिणति रूदन, क्रन्दन एवं हताशा में बदल जाती है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि अनेकों ऋषि-मुनि, देव-दानव एवं राजा-महाराजा अमरता प्राप्त करने की चाह रखते थे पर असफल हुए। मरण सृष्टि का अनिवार्य सत्य है। संत कबीर के इस अमर संदेश को स्वीकार करने का साहस तब दिखा जब मैं मृतक के आंगन में पैर रखा। आंगन में मृत शरीर पड़ा था। कुछ लोगों की आंखें भरी थीं। आंगन के एक कोने में कच्चे बांस लाकर अरथी बनाने का उपक्रम चल रहा था, तो शेष भाग में ग्रामीण लोग दरी-चटाई बिछाकर बैठते जा रहे थे। बीच में हारमोनियम रखा गया; ढोलक आया; झांझ-मजीरा एवं खड़ताल भी रखे थे। जैसे-जैसे लोग आते गये मजलिस के इर्द-गिर्द बैठते रहे। अपने-अपने वाद्य यंत्र पकड़ करके सुर से सुर मिलाया गया। गायक ने अपने उद्बोधन में लोक-संस्कृति के इस शैली को 'निर्गुण गायन' बतलाया।

कबीर-बानी के नाम से लाखों शब्द और साखियों का संग्रह अनेक लोगों ने प्रकाशित किया है मगर निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इनमें कौन कबीर साहेब की रचना है। साहित्यिक चोरी अब विकसित हुई है। साहित्यकारों की जमात पर आभिजात्य वर्ग का वर्चस्व रहा है। जिन्हें कबीर के दर्शन और सिद्धान्त काटने दौड़ते थे। अतः उनमें से कोई चोरी करे इसकी गुंजाइश नहीं बचती क्योंकि प्रचार तो कबीर का ही होता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का एक वक्तव्य प्रसिद्ध समालोचक श्री नामवर सिंह उद्धृत करते हैं—“बात-बात में शांति निकेतन और रवीन्द्रनाथ को लेकर मुझे ताना दिया जाता था, कुछ इस ढंग से मानो उदार होना या सार्वभौम दृष्टि रखना कोई बहुत बड़ा अपराध हो। काशी विश्वविद्यालय में मैंने कबीर पढ़ाना शुरू किया तो एक मित्र कुलपति से शिकायत कर आये कि जिस विभाग में तुलसीदास से पढ़ाई शुरू होती थी उसमें कबीर से शुरू होने लगी है”—दूसरी परम्परा की खोज, पृ. 36।

इससे अंदाज हो सकता है कि भारत-पाक-बंगलादेश के कोने-कोने में जो शब्द-निर्गुण सुनाई पड़ते हैं और जिसमें आता है—“कहत कबीर सुनो भाई साधो”—तो उसमें क्षेत्रीय भाषाओं के लोक गायकों का श्रेय है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि लोकजीवन में संत कबीर को ध्वनि मत से स्वीकार किया गया है।

### निर्गुण-1

डोलिया कहार लेइके अइले सजनवां,  
सजनवां हो मोर मांगेलन गवनमा,  
डोलिया में हमरा के देइहैं बैटाई,  
सुसुकी-सुसुकी रोइ मां बाप भाई  
छुटी जाई बाबुल के हमरे अंगनवा,  
सजनवां हो मोर...

पंचरंगी चुनरी ना पहिरा गुजरिया,  
कहेलन सजन ओढ़ कोरी रे चुनरिया  
लेई चलूं खास जहंवा कैलू जतनमा,  
सजनवां हो...

सब केहु कुछ दूर देइहैं पहुंचाई,  
लमहर बा राह ना संगे केहु जाई  
ये ही हवे रीति जाने सकलो जहनमा,  
सजनवां हो...

जब देखिहैं सैया मोर सोलहो सिंगरवा,  
हमरा से प्रीति करिहैं देइ अकवरवा  
धन्य होई जाइब मोर जुड़ा जाई मनवा,  
सजनवां हो...

सोलह संस्कार औरि सोलहो सिंगरवा,  
पंचरंग चुनरी ह जैसे वा पियरवा  
क्षिति जल पावक गगन पवनमा,  
सजनवां हो...डोलिया कहार लेके...

निर्गुण का भावार्थ जानने के पहले कुछ शब्दों को जान लेने से उन लोगों को मदद होगी जो पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार, झारखण्ड तथा मध्य प्रदेश की लोक भाषा एवं लोक संस्कृति से परिचित नहीं हैं। भारत स्वतंत्र होने के बहुत बाद तक, कुछ हद तक अभी भी

कहीं-कहीं, बाल विवाह के कुछ साल बाद, किशोरावस्था में दूल्हे के घर से दिन धराया जाता था। दूल्हा पुनः बारात लेकर दुलहन के घर गौना (Ceremonial bringing of wife from father's home) यानी विदाई कराने जाता था। दुलहन को अलविदा (fare well) के वक्त माई, बाप, भाई, भौजाई तथा सखियां रो-रोकर पति की डोली में बिठा देते थे। दुलहन परिवार की इस निष्ठुरता से बेजार होकर रोती है कि अब मैके से नाता सदा-सदा के लिए छूट गया है।

कबीर दर्शन में मरण का मतलब सांसारिक प्रपंचों के बंधन से छुटकारा है। वे कहते हैं : “जेहि मरने से जग डरे, मेरे मन आनंद। कब मरिहौं कब पाइहौं, पूरन परमानन्द।” लेकिन जो भाव निवृत्ति के शिखर पर आरूढ़ संत कर सकते हैं वह साधारण सांसारिक प्राणी के लिए संभव नहीं। शोकाकुल समाज के लिए कबीर निर्गुण का संदेश है कि यह शोक मनाने का नहीं बल्कि ‘मिलनी’ मिलनोत्सव की घड़ी है।

“मेरे साजन डोली और कहार लेकर आये हैं तथा मेरा गौना मांग रहे हैं। मुझे डोली में बिठा दिया जायेगा। फिर मां, बाप एवं भाई आंसू बहा-बहाकर रोवेंगे। बाबुल का अंगना जो अब तक मेरा था, छूट जायेगा। साजन कहते हैं कि हे गुजरिया (Copartner साझेदार) पांच रंगों की चुनरी नहीं पहिरो। एक नयी कोरी चुनरी पहिर लो और मैं तुम्हें वहां ले चलूं जिसके लिए तूने जतन (यत्न) किया। सब लोग जो विदाई के मौका पर आये हुए हैं, कुछ दूर तक छोड़ने के लिए जायेंगे लेकिन रास्ता लम्बा है, साथ कोई नहीं जायेगा। यही रीति है। सारे जगत के लोग इसे जानते हैं। सैंया जब मेरा सोलहों श्रृंगार देखेंगे तो मुझे अकवारी में भरकर प्रीति करेंगे। मैं धन्य हो जाऊंगी और मन मेरा जुड़ा-तृप्त हो जायेगा। सोलह-संस्कार और सोलह सिंगार वैसे ही है जैसे प्रियतम का दिया हुआ पियरी जिसमें क्षिति-धरती, जल, पावक-आग, गगन एवं पवन के पांच रंग हैं। मानव शरीर पांच रंगों में रंगी चुनरी है जिसे प्रियतम ने मुझे गौना के लिए पियरी भेंट में दी है।”

## निर्गुण-2

बारी मोरी अब ही उमरिया, विधाता दिनमा थै दिहले ये राम  
सजना सयान हम नादान से कैसे के गवनमा जाइब ये राम  
बाबा मोरा ऐसन निरमोहिया, ना मन में बिचरवा कैले ये राम  
माई मोरा हिय के कठोर से घरवा से निकाल दिहली ये राम  
नैहरा में कुछउ न सिखलीं, पिया के घर काई करबि ये राम  
कुसुम रंग पेंहली चुनरिया, त लाल रंग चादर मिलल ये राम  
डोलिया में हमके बिठाई के, कहार चारि लागि गइल ये राम  
सुसुकी-सुसुकी माई रोवेंली त सखी बुका फारि रोवे ये राम  
धानी अब भइली ससुरै तीन लौटी फिर न आइब ये राम  
दास ये कबीर निर्गुण गावेलन, गाय के समझावेले ये राम

अभी तो मेरी उम्र कमसिन (नाबालिगी) है फिर भी विधाता ने गौना (मरण) का दिन तय कर दिया। प्रत्येक पंक्ति के अंत में ‘ये राम’ जुड़ने से कबीरी प्रभाव का छाप स्पष्ट है। बेलि प्रकरण के पदों में कबीर साहेब प्रत्येक पंक्ति का अंत ‘हो रमैया राम’ से करते हैं। साजन सयान हैं और मैं नादान। हे राम! मैं कैसे के गौना में प्रियतम के घर जाऊंगी। हे राम! मेरे बाबा ऐसे निर्मोही-ममता रहित हैं कि गौना का दिन धरते समय मन में कुछ भी विचार नहीं किया। मां मेरी तो कठोर हृदय की है कि उसने तो मुझे घर से ही निकाल दिया। मायका-नैहर में कुछ भी नहीं सीख पायी, हे भगवान! पिया के घर जाऊंगी तब क्या करूंगी। मैंने कुसुम रंग की चुनरी पहन रखी थी उस पर लाल रंग की चादर ओढ़ाई गई (शव को जब अर्थी पर लिटाया जाता है तब सगे सम्बन्धी रंग-बिरंगी चादर-सा कफन डालते हैं।) मुझे डोली (अर्थी) में बैठा करके चार कहार लग गये हैं। मां सुबुक-सुबुक कर रो रही हैं तो सखियां छाती पीट-पीटकर। प्रियतम! मैं अब ससुराल वाली हो गई हूं अतः फिर से लौटकर नहीं आऊंगी। कबीर दास निर्गुण गाते हैं और गा-गाकर समझाते हैं। अर्थात् कबीर साहेब अपने निर्गुण गायन के द्वारा समझाते हैं कि शरीर त्यागकर जब प्राण गमन करता है तब अपने अविनाशी प्रियतम से मिलकर विश्रान्ति पा जाता है। आवागमन का चक्र टूट जाता है।

### निर्गुण-3

बाबा के भवनवा न खेलली त दिन नियराई गैले ये राम  
रतिया में देखनी सपनवा त पिया लेके डोलिया अइले ये राम  
सुधि-बुधि सब गैल भुलाई जियरा बड़ा घबराता  
सबसे नाता लागत टूटी, येही चिंता खाता  
लागल अगिया कैसे बुताई त पियवा निदरदी भइले ये राम,  
सावन-भादो बाबू जी के आंखिया, माई के हिरोह न छूटे  
गांव जवार सब भइल सपना, सखियन से नाता टूटे  
नान्हे के संघतिया न माने ला बतिया, त पीछे मोरा लपटइले  
लाख मनाई भौजी न माने दुअरा बैठि रोवे भाई  
तनिको दरद न बुझे केहुके, भइले पियवा कसाई  
बाबा के मोरे लौकेला सुरतिया, त सगरो सपनवा भइल ये राम

बाबा के भवन में ठीक से खेल भी न पायी थी कि  
गौने का दिन निकट आ गया। रात में एक सपना देखी  
कि पिया डोली लेके आये हैं। सुध-बुध सब भूल गयी  
और दिल बहुत घबराने लग गया। लगता है कि सबसे  
नाता टूट जायेगा, इसी बात की चिन्ता खाये जा रही है।  
जो आग लगी है उसे किस तरह बुझाऊं, पिया तो  
निर्दयी हो गये हैं। बाबू जी की आंखों से आंसू ऐसे बह  
रहा है जैसे सावन-भादो बरसता है, और मां की  
हिचकियां तो बन्द नहीं होतीं। गांव-जवार (आस-पास  
के गांव) सब सपना-सा दीखता है तथा सखियों से  
नाता टूटने वाला है। लड़कपन की सखी-सहेली किसी  
की बात नहीं मानती हैं और मुझसे लिपट गयी हैं।  
लाख कोशिश कर चुकी पर बड़ी भाभी रोना बन्द नहीं  
कर रही हैं तो द्वारे पर बैठकर भैया भी रो रहे हैं।  
तनिक-सा दर्द भी किसी का नहीं महसूस कर रहे हैं।  
प्रियतम, जैसे कसाई हो गये हों। मेरे बाबा की सूरत  
दीखती है तो सब जगह सपना-सा प्रतीत होता है।

### निर्गुण-4

बिरहा के अगिया लागेला ये ही तन में,  
कौन सखी मार दीहली टोना ये राम  
कंकड़ चुनी-चुनी महल बनवलीं,  
लोग कहे घर मेरा ये राम  
ना घर मेरा ना घर तेरा,

चिड़िया रैन बसेरा ये राम  
अमवा के डारि पे बोलेले कोइलिया,  
बन में बोलेला बनमोर ये राम  
नदिया किनरवा बोलेला सहरेसवा,  
हम जानीं पिया मोरा ये राम  
मोर पिछुअड़वा चरेला बनमोरवा,  
जनि मारे कोई रोरा ये राम  
रोरवा के मारले इ मोर मरि जइहैं,  
मोरे बिरहनियां के जोर ये राम  
लट छितराई के कामिनी रोवे,  
के मोर जोरा के फोरा ये राम  
कहत कबीर सुनो ये भाई साधु,  
जिन जोरा तिन तोरा ये राम

विरह (प्रियतम से बिछड़ाव) की अग्नि इस तन में  
लगी है, न जाने कौन सखी ने टोना मार दिया है।  
ग्रामीण परिवेश में कहावत है कि दूसरे के सुन्दर पति  
को टोना (Charm) मोहिनी मंत्र मारकर अपने वश में  
कर लेती हैं। तब प्रियतम के वियोग में पत्नी विरहनी  
बन जाती है।

कंकड़-पत्थरों की चुनाई करके महल बना  
लिया। लोग कहते हैं कि मेरा घर है। पर न मेरा घर, न  
तो तेरा। यह तो सराय है जहां आने-जाने वाले ठहरते  
हैं। जैसे चिड़िया रात में घोंसला में बसेरा करके सबेरे  
पुनः उड़ जाती है। जब भी आम के डाल पर  
कोयल बोलती है, वन में जंगली मोर बोलते हैं अथवा  
नदी के किनारे सारस बोलते हैं तब मुझे ऐसा लगता है  
कि मेरे प्रियतम मुझे आवाज दे रहे हैं। मेरे घर के  
पिछवाड़ा (Back garden) में अकसर बन से मोर  
आकर चरा करते हैं। यदि कोई मोर को रोड़ा (a piece  
of broken brick or stone) फेंककर मार दे तो इस  
बिरहिन की हाय से वह मोर मर जायेगा। लट  
छितराकर कामिनी रो-रोकर पूछती है कि मेरे जोड़ा को  
किसने फोड़ दिया। कबीर साहेब कहते हैं जिसने जोड़ा  
था उसी ने तोड़ा है।

(क्रमशः)

# व्यवहार वीथी

## व्यवहार-कला

दुनिया में कौन ऐसा आदमी है जिसे घर-परिवार, कार्यस्थलों में अनेक लोगों से संपर्क, संबंध एवं व्यवहार न रखना पड़ता हो। परंतु, कोई बिरला ऐसा होगा जिसे अपने परिवारीजनों, संबंधियों एवं सहयोगियों से किसी प्रकार की कोई शिकायत न हो। अधिकतम लोगों की यह शिकायत रहती है कि माता-पिता, पुत्र-पुत्री, पति-पत्नी, सास-बहू, भाई, सहयोगी उनकी बात नहीं सुनते, कहना नहीं मानते, पास में नहीं बैठते, बराबर सहयोग नहीं करते, इसी प्रकार अन्य और। प्रायः एक-दूसरे के साथ व्यवहार कटुता एवं कलहपूर्ण बना रहता है और लोग एक-दूसरे से खिंचे-खिंचे रहते हैं। जब व्यवहार ही कटुता, कलह एवं तनावपूर्ण है तब सुखपूर्वक जीवन कैसे जीया जा सकता है। व्यावहारिक जीवन तो सुखमय तभी हो सकता है जब एक-दूसरे के प्रति हृदय में प्रेम हो, संबंध में आत्मीयता हो एवं विचारों में सामंजस्य हो।

व्यावहारिक जीवन को सुखमय तथा संबंधों में आत्मीयता बनाये रखने के लिए आवश्यक कुछ सूत्रों पर यहां थोड़ा विचार करें—

1. अच्छे श्रोता बनें—पारस्परिक संबंधों में खटास पैदा होने का एक प्रमुख कारण है साथियों की बातों को ध्यान से न सुनना, उनमें रुचि न लेना। लोगों की प्रायः आदत होती है कि अपनी बातों को दूसरों से विस्तारपूर्वक कहने की। वे अपनी बात सबको सुनाना चाहते हैं, परंतु स्वयं दूसरों की बात सुनना नहीं चाहते। यदि कभी सुनते भी हैं तो ध्यानपूर्वक नहीं सुनते, उसमें रस नहीं लेते।

पुरानी और नई पीढ़ी में जो दूरियां बढ़ती जा रही हैं उसका एक कारण है कि आज की नई पीढ़ी के पास पुरानी पीढ़ी के पास बैठकर उसकी बात सुनने के लिए समय नहीं है या वे इसकी आवश्यकता नहीं समझते। संपन्न घरानों में सारी सुविधा उपलब्ध होने के बावजूद

बुजुर्ग बूढ़े माता-पिता तनावग्रस्त एवं उदास क्यों रहते हैं और अपने को उपेक्षित क्यों महसूस करते हैं। इसलिए कि उनके बेटे-बहुओं के पास सबके लिए समय है किन्तु वे उनके पास बैठकर उनकी बात सुनना तक नहीं चाहते। यदि बेटा-बहू चौबीस घंटे में मात्र 10-15 मिनट माता-पिता के पास बैठकर उनकी बात सुन लिया करें तो बूढ़े माता-पिता को बड़ा संतोष हो जाये और वे अपने को उपेक्षित महसूस नहीं करेंगे।

कई घरों में प्रायः देखा जाता है कि यदि छोटे बच्चे माता-पिता से कुछ पूछते हैं तो माता-पिता हमारे पास समय नहीं है कहकर या कोई बहाना बनाकर उनकी बात सुनना नहीं चाहते या झिड़ककर उन्हें चुप करा देते हैं। इसीलिए बच्चे माता-पिता की अपेक्षा दादा-दादी या नाना-नानी के पास ज्यादा रहना चाहते हैं, क्योंकि दादा-दादी या नाना-नानी पोता-पोती या नाती-नातिन की बात प्यार से सुनते हैं और उन्हें अपनी बातें सुनाते भी हैं। इससे दोनों के मन को संतोष होता है।

आज के इस भागमभाग के जमाने में कितने पति-पत्नी के पास एक-दूसरे की बात सुनने या एक-दूसरे से बात करने की फुरसत नहीं है। दिन भर दोनों अपने-अपने कार्यक्षेत्र में व्यस्त रहने के बाद रात्रि में इकट्ठे होते हैं तब दोनों अपना-अपना मोबाइल लेकर बैठ जाते हैं और वाट्स एप, फेस बुक एकाउण्ट खंगालने में या इंटरनेट के माध्यम से नई-नई सूचना-जानकारी प्राप्त करने में व्यस्त हो जाते हैं, जिससे वे परस्पर बात तक नहीं कर पाते। एक बड़े शहर के एक प्रसिद्ध डॉक्टर की पत्नी ने एक बार उस डॉक्टर से कहा था कि यदि मेरी शादी तुम्हारे बनिस्बत किसी चपरासी से हुई होती तो मैं ज्यादा सुखी होती, क्योंकि वह मेरे पास बैठकर मेरी बातें तो सुनता, मुझसे बातें तो करता।

लोग बाहर मित्रों, साथियों, सहयोगियों, सहकर्मियों की बातें तो सुन लेते हैं, उनसे बातें कर लेते हैं, यदि नहीं सुन पाते हैं तो अपने परिवार के सदस्यों की बातें। इसीलिए सबके मन में तनाव भरा रहता है और एक दूसरे के प्रति संदेह बढ़ता चला जाता है। यदि परिवार

के सभी सदस्य रात्रि-भोजन के पहले एक साथ बैठकर एक दूसरे की बातें सुन लिया करें, परस्पर बात कर लिया करें तो तनाव और संदेह दूर होकर सबका मन हलका हो जाये और परस्पर में प्रेम, समता, एकता बढ़कर सबका व्यवहार मधुर और सुखमय हो जायेगा।

जैसे आप अपनी बात दूसरों से कहते हैं वैसे दूसरों की बातें प्रेम से सुनें। इतना ही नहीं उन्हें अपनी बात कहने के लिए प्रोत्साहित करें। उनकी किसी प्रकार की कोई शिकायत है तो उसे भी प्रेम से सुनें और यथासंभव उसे दूर करने का प्रयास करें। इससे उसके दिल में आपके लिए जगह बनती जायेगी और आपके लिए उसका प्रेम बढ़ता चला जायेगा।

**2. विवाद से बचें**—दूसरों से अपनी बातें कहने की और दूसरों की बातें सुनने की जरूरत तो है क्योंकि इससे एक-दूसरे के विचारों का पता चलता है कि वे क्या चाहते हैं और क्या पसंद करते हैं। परंतु ध्यान यह रखना है कि इस कहने-सुनने में विवाद न बढ़ने पाये। हर आदमी को अपनी बात, विचार, मान्यता, सिद्धांत सच लगते हैं और जब कोई उसके विचार, सिद्धांत, बात का खंडन करता है या उसको गलत साबित करता है तब उसके अहं को ठेस लगती है और वह अपने बात-विचार को सही सिद्ध करने का प्रयास करता है और इससे विवाद बढ़ जाता है। विवाद से समाधान तो होता नहीं, किन्तु कटुता-कलह-मनमुटाव की ही वृद्धि होती है।

विवाद में समझने-समझाने का भाव न होकर अपनी बात को सच और सामने वाले की बात को गलत साबित करने का उद्देश्य होता है और कोई आदमी यह सहन नहीं करना चाहता कि कोई उसकी बात को गलत साबित करे। जहां दोनों पक्ष अपनी-अपनी बात को सच साबित करने पर डटे हों वहां कौन किसकी बात मानेगा और कौन किससे अपनी बात मनवा सकता है। यदि आप चाहते हैं कि सामने वाला आपकी बात माने तो उसे अपनी बात को सच साबित करने दें और उसकी बात को धैर्यपूर्वक सुनें। यदि सामने वाला किसी गलत बात को सही सिद्ध कर रहा है तो भी उसे वैसा करने दें, उसे बीच में न तो टोकें और न उसे गलत कहें, क्योंकि ऐसा करने पर वह

जिद-हठ में उतर आयेगा। जब वह अपनी पूरी बात कहकर चुप हो जाये तब धीरे से प्रेमपूर्वक समझाने पर उसे अपनी गलती समझ में आ जायेगी और वह उसे छोड़ देगा। यदि वह अपनी गलती नहीं छोड़ता-स्वीकारता तो उसकी बात सुन लेने से आपस का प्रेम व्यवहार तो मधुर बना रहेगा।

विवाद करके आप किसी को चुप तो करा सकते हैं, परंतु न तो उसको अपनी बात मनवा सकते हैं, न उसका प्रेम पा सकते हैं और न उसके दिल में अपने लिए जगह बना सकते हैं। यदि आप अपने को दूसरों से अधिक समझदार और बुद्धिमान मानते हैं तो विवाद में कभी न पड़ें और न दूसरों से अपनी बात मनवाने का हठ करें, क्योंकि समझदार आदमी कभी विवाद नहीं करता। विवाद तो सदैव नासमझ लोग ही करते हैं। खासकर अपने निकट संबन्धियों, परिवारीजनों, सहकर्मियों, मित्रों आदि से तो कभी विवाद में नहीं पड़ना चाहिए, क्योंकि उनसे विवाद में जीत जाना भी हार जाना है। और हार जाना, उनकी बातों को मान लेना भी जीत जाना है, क्योंकि हारकर, उनकी बातों को मानकर आप उनका प्यार, प्रेम, सहयोग पा जायेंगे और जीत कर उनको चुप कराकर जो प्यार, प्रेम, सहयोग पा रहे हैं उनसे भी वंचित हो जायेंगे और वे आपसे और अधिक दूर होते चले जायेंगे।

**3. सच्ची प्रशंसा करें**—दुनिया में ऐसा कौन आदमी है जो अपनी प्रशंसा न सुनना चाहता हो और जिसे अपनी प्रशंसा सुनकर खुशी न होती हो। अरे, आदमी तो आदमी भगवानों को भी अपनी प्रशंसा बहुत प्यारी लगती है और वे अपनी प्रशंसा सुनकर खुश हो जाते हैं। आरती, विनय, वंदना के जितने भी पद हैं, सब में प्रशंसा के सिवा और क्या हैं। जब भगवान कहे जाने वालों को प्रशंसा इतनी प्यारी है तब आदमी के लिए कहना ही क्या! इसलिए यदि आप किसी का दिल जीतना चाहते हैं और उससे मधुर संबंध-व्यवहार बनाये रखना चाहते हैं तो समय-समय से उसकी किसी काम के लिए सच्ची प्रशंसा अवश्य करें।

कभी आप अपने बहू-बेटा, नौकर, कर्मचारी, सहकर्मी, घर के किसी छोटे-बड़े सदस्य के किसी काम की सच्ची प्रशंसा करके देखें, उसका मन कैसा

प्रसन्न हो जायेगा। लोगों की प्रायः आदत होती है कि वे बाहर तो दूसरों के छोटे-साधारण काम की प्रशंसा कर लेते हैं, परंतु घर के सदस्यों के अच्छे काम की भी प्रशंसा नहीं कर पाते। वे समझते हैं कि ये तो अपने लोग हैं, इनकी क्या प्रशंसा करना है। बेटा का कर्तव्य है पिता की आज्ञा मानना, बहू का काम है अच्छा भोजन बनाना, घर आये मेहमानों का स्वागत-सत्कार करना, पत्नी का काम है पति की सुविधाओं का ख्याल रखना, यह सब तो इनका कर्तव्य है। इसके लिए इनकी क्या प्रशंसा करना। परंतु यदि आप चाहते हैं कि घर-परिवार के सदस्यों के मन में आपके प्रति आदर-सम्मान बना रहे, वे आपके आज्ञानुवर्ती बने रहें, उनसे आपका संबंध मधुर बना रहे, तो समय-समय पर आप उनके किसी अच्छे काम की सच्ची प्रशंसा अवश्य करते रहें। जैसे आप चाहते हैं कि घर के सदस्य आपकी प्रशंसा करें वैसे वे भी चाहते हैं।

किसी की सच्ची प्रशंसा तो जरूर करें, परंतु चापलुसी या झूठी प्रशंसा न करें। झूठी प्रशंसा ही चापलुसी कहलाती है। सच्ची प्रशंसा किसी के अच्छे काम को देखकर सच्चे दिल से निकलती है, परंतु झूठी प्रशंसा-चापलुसी अपना कोई स्वार्थ साधने, कोई काम निकालने के लिए ऊपरी मन से की जाती है। सच्ची प्रशंसा से आप किसी के दिल को जीतकर उसे अपना बना लेते हैं परंतु झूठी प्रशंसा से किसी को अपना नहीं बना सकते, बल्कि सामने वाले को यह मालूम होने पर कि आपने अपना काम निकालने के लिए उसकी झूठी प्रशंसा की थी, उसके मन में आपके लिए नफरत ही होगी। वह भीतर से कभी आपका नहीं बन सकता।

यदि हम ध्यान दें तो हमें हर आदमी में कोई न कोई ऐसी अच्छाई अवश्य दिखाई पड़ सकती है कि उसकी सच्ची प्रशंसा की जा सके। इसलिए हर व्यक्ति की अच्छाई पर ध्यान दें। और उस अच्छाई की ही प्रशंसा करें। सच्ची प्रशंसा से आप किसी को भी अपना बना सकते हैं, साथ ही किसी की अच्छाई की प्रशंसा करने से उसे और अच्छा काम करने की प्रेरणा मिलती है।

**4. सामने वाले को महत्त्व दें—जीवन-निर्वाह के लिए तथा दूसरों की सेवा-सहायता के लिए चीजों**

का महत्त्व है, परंतु चीजों की अपेक्षा व्यक्तियों का और ज्यादा महत्त्व है। आखिर सारी चीजें मनुष्यों के लिए ही तो हैं। चीजें रह गयीं और मनुष्यों-परिवार के सदस्यों, संबंधियों, मित्रों का संग-साथ-प्रेम छुट गया या टूट गया तो चीजें संतोष-सुख नहीं दे सकतीं। इसके विपरीत यदि परिवार के सदस्यों-साथियों में परस्पर मधुर प्रेमपूर्ण व्यवहार-सामंजस्य है तो थोड़ी चीजों में भी संतोष-सुखपूर्वक जीवन जीया जा सकता है। इसलिए यदि परिवार के सदस्यों-साथियों से प्रेम व्यवहार बनाये रखने के लिए चीजों को छोड़ना पड़े तो कोई हर्ज नहीं, किन्तु चीजों को महत्त्व देकर साथियों का प्रेम-व्यवहार छोड़ने की भूल कदापि न करें, नहीं तो जीवन नरक बन जायेगा।

किसी कार्य-व्यवहार में साथियों-परिवार के सदस्यों से राय अवश्य लें। उन्हें यह अहसास करायें कि उनकी राय आपके लिए महत्त्वपूर्ण है। सामने वाले व्यक्ति से जब कुछ पूछें या वह जब कुछ कहें तो उसकी बात ध्यानपूर्वक सुनें, बीच में न काटें, जिससे उसे यह महसूस हो कि उसकी राय-बात को आप कितना महत्त्व देते हैं।

यह ध्यान रखें कि जैसा हम दूसरों को देते हैं वैसे ही हमें लौटकर मिलता है। दूसरों को महत्त्व देने वाला व्यक्ति स्वयं दूसरों की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण हो जाता है। जैसे हर व्यक्ति के मन में अपनी प्रशंसा सुनने की भूख रहती है वैसे ही वह चाहता है कि लोग मेरा भी महत्त्व समझें। दूसरों की दृष्टि में स्वयं को महत्त्वपूर्ण जानकर किस व्यक्ति का मन प्रसन्न नहीं होगा।

यदि आप किसी के दिल में अपने लिए जगह बनाना चाहते हैं और उसको अपना सहयोगी-साथी बनाकर रखना चाहते हैं, तो उसको महत्त्व तो दें ही साथ-साथ उसकी रुचियों को भी जानें और यह भी कि उसके लिए क्या रसपूर्ण एवं आनंदपूर्ण है। उसकी रुचि एवं रसपूर्ण विषय को जानकर स्वयं उसमें रस लेना शुरू करें। उसमें उसका सहयोग करना शुरू करें, फिर देखेंगे कि जो व्यक्ति आपकी बात मानना तो दूर सुनना तक पसंद नहीं करता था वह आपकी बात मानना शुरू कर देगा। जो आपसे दूर-दूर रहता था उसका प्रेम-सहयोग मिलना शुरू हो जायेगा। —धर्मेन्द्र दास

## कल्याण

### याद रखो—

- ◆ जब तक तुम्हें अपना लाभ और दूसरे का नुकसान सुखदायक प्रतीत होता है, तब तक तुम नुकसान ही उठाते रहोगे।
- ◆ जब तक तुम्हें अपनी प्रशंसा और दूसरे की निन्दा प्यारी लगती है, तब तक तुम निन्दनीय ही रहोगे।
- ◆ जब तक तुम्हें अपना सम्मान और दूसरे का अपमान सुख देता है, तब तक तुम अपमानित ही होते रहोगे।
- ◆ जब तक तुम्हें अपने लिए सुख की और दूसरे के लिए दुःख की चाह है, तब तक तुम दुखी ही रहोगे।
- ◆ जब तक तुम्हें अपने को न ठगाना और दूसरे को ठगना अच्छा लगता है, तब तक तुम ठगते ही रहोगे।
- ◆ याद रखो—जब तक तुम्हें अपने दोष नहीं दीखते और दूसरे में खूब दोष दीखते हैं, तब तक तुम दोषयुक्त ही रहोगे।
- ◆ जब तक तुम्हें अपने हित की और दूसरे के अहित की चाह है, तब तक तुम्हारा अहित ही होता रहेगा।
- ◆ जब तक तुम्हें सेवा कराने में सुख और करने में दुःख होता है, तब तक तुम्हारी सच्ची सेवा कोई नहीं करेगा।
- ◆ जब तक तुम्हें लेने में सुख और देने में दुःख का अनुभव होता है, तब तक तुम्हें उत्तम वस्तु कभी नहीं मिलेगी।
- ◆ जब तक तुम्हें भोग में सुख और त्याग में दुःख होता है तब तक तुम असली सुख से वंचित ही रहोगे।
- ◆ जब तक तुम्हें विषयों में प्रीति और भगवान में अप्रीति है, तब तक तुम सच्ची शान्ति से शून्य ही रहोगे।
- ◆ जब तक तुम्हें शास्त्रों में अश्रद्धा और मनमाने आचरणों में रति है, तब तक तुम्हारा कल्याण नहीं होगा।
- ◆ जब तक तुम्हें साधुओं से द्वेष और असाधुओं से प्रेम है, तब तक तुम्हें सच्चा सुपथ नहीं मिलेगा।
- ◆ जब तक तुम्हें सत्संग से अरुचि और कुसंग में प्रीति है, तब तक तुम्हारे आचरण अशुद्ध ही रहेंगे।
- ◆ जब तक तुम्हें जगत में ममता और भगवान से लापरवाही है, तब तक तुम्हारे बन्धन नहीं कटेंगे।
- ◆ याद रखो—तब तक तुम्हें अभिमान से मित्रता और विनय से शत्रुता है, तब तक तुम्हें सच्चा आदर नहीं मिलेगा।
- ◆ जब तक तुम्हें स्वार्थ की परवाह है और परार्थ की नहीं, तब तक तुम्हारा स्वार्थ सिद्ध नहीं होगा।
- ◆ जब तक तुम्हें बाहरी रोगों से डर है और काम-क्रोधादि भीतरी रोगों से प्रीति है, तब तक तुम नीरोग नहीं हो सकोगे।
- ◆ जब तक तुम्हें धर्म से उदासीनता और अधर्म से प्रीति है, तब तक तुम सदा असहाय ही रहोगे।
- ◆ जब तक तुम्हें मृत्यु का डर है और मुक्ति की चाह नहीं है, तब तक तुम बार-बार मरते ही रहोगे।
- ◆ जब तक तुम्हें घर-परिवार की चिन्ता है और भगवान की कृपापर भरोसा नहीं, तब तक तुम्हें चिन्ता-युक्त ही रहना पड़ेगा।
- ◆ जब तक तुम्हें प्रतिशोध से प्रेम है और क्षमा से अरुचि है, तब तक तुम शत्रुओं से घिरे ही रहोगे।
- ◆ जब तक तुम्हें विपत्ति से भय है और प्रभु में अविश्वास है, तब तक तुमपर विपत्ति बनी ही रहेगी।

( साभार : कल्याण, अक्टूबर , गीताप्रेस )

## खामोशी से अपनी अदालत जारी रखें

लेखक—श्री के.पी. पाण्डेय

संसार विकल्पों से भरा है। प्रत्येक समय हम किसी-न-किसी दोराहे, तिराहे या चौराहे पर होते हैं और हमें यह निर्णय करना पड़ता है कि हम किधर जायें। कभी-कभी यह भी स्थिति होती है कि आगे का रास्ता बन्द होता है, तब हमें निर्णय करना होता है कि रास्ता बनायें या वापस हो लें। कभी ऐसा भी होता है कि रास्ते की लम्बाई और उसका सरल होना हमें उबाने लगता है, तब भी हमें निर्णय लेना होता है कि आगे बढ़ें या रुक जाएं। यह निर्णय हम एकाकी ही लेते हैं, सहयोग, मार्गदर्शन चाहे जिसका भी हो। निर्णय लेने की इस प्रक्रिया में हम आगा-पीछा, लाभ-हानि, यश-अपयश सब पर विचार करते हैं। और यदि निर्णय की प्रक्रिया में कोई सहयोग लिया जाता है तब कभी हमारा निर्णय सहयोगी का अनुसरण करता हुआ होता है, कभी उसके विरुद्ध होता है और कभी तो एक निर्णय ऐसा हो जाता है, जिसकी पहले सम्भावना ही नहीं थी।

गृहस्थी की गाड़ी चलाते हुए कभी हम वादी होते हैं, कभी प्रतिवादी होते हैं, कभी गवाह होते हैं, कभी वकील होते हैं, कभी जज होते हैं और कभी यह सब एक साथ हम स्वयं होते हैं। जहां हम कोई एक किरदार निभा रहे होते हैं वहां वह किरदार निभाना हमारे लिए आसान होता है परन्तु जब हम सारे किरदार स्वयं ही सब समय निभाने के लिए बाध्य होते हैं तो यह समय बड़ा कठिन होता है परन्तु हम निभाते तो हैं ही। कभी हमारा निर्णय सही होता है, कभी गलत भी हो जाता है और ऐसा भी होता है कि कभी हम निर्णय ले ही नहीं पाते। ऐसी स्थिति में हम एक्सपर्ट ओपीनियन के लिए किसी और के पास जाते हैं। जाहिर है कि ऐसी सम्मति के लिए हम किसी ऐसे के पास जायेंगे जो हमसे श्रेष्ठ होगा और हमारी जैसी स्थिति को पार कर चुका होगा। इसी तरह हम नजीरें देखेंगे और

यह पता लगाएंगे कि इन स्थितियों में पहले कभी किसी ने क्या निर्णय लिया था और जो निर्णय लिया था, उसकी आज क्या स्थिति है। वह स्थिर हो चुका है या अभी भी अस्थिर है। यदि स्थिर हो चुका है तो बहुत सम्भावना है कि हम उसे फालो करेंगे। सम्भावना यह भी है कि हम डिफरेंसियेट करेंगे। यदि स्थिर नहीं हुआ है, तब हमें स्वतन्त्र निर्णय लेना ही पड़ेगा।

ऐसे निर्णय भी हम लेते ही रहते हैं, हालांकि यह अत्यन्त कठिन है। कभी-कभी यदि शतरंज की बिसात बिछी हो, मोहरे सजे हों, दूसरे खिलाड़ी की प्रतीक्षा हो और उसे आने में देर हो रही हो तो उपस्थित खिलाड़ी अकेले ही बिसात पर मोहरों से खेलने लगता है। कभी सफेद मोहरों से चाल चलता है और कभी काले मोहरों से। दोनों स्थितियों में वह चालकसी बनाये रहता है। यदि इस तरह के खेल में पछा-पछी न की जाये और निरपेक्ष होकर खेला जाये तो खेल में नित्य प्रति सुधार होता जायेगा। एक समय ऐसा आयेगा जब खिलाड़ी की योग्यता चरम पर होगी। परन्तु प्रश्न यह है कि ऐसा खेल कोई कब तक खेल पायेगा। थोड़ी ही देर में खिलाड़ी खेल बन्द कर देगा क्योंकि इस तरह का खेल बहुत कठिन होता है।

संसार के कुछ कार्य मनुष्य को स्वयं करने पड़ते हैं। वह कार्य वह दूसरे को सौंप नहीं सकता। वह सौंपता भी नहीं है। जैसे भोजन करने का कार्य मनुष्य को स्वयं करना पड़ेगा, किसी दूसरे के भोजन करने से हमारी भूख नहीं मिटेगी। बीमार हैं तो दवा का सेवन हमें ही करना पड़ेगा, किसी दूसरे के दवा सेवन करने से हमारी बीमारी नहीं जायेगी। हमारे लिए भोजन कोई बना सकता है परन्तु खाना हमीं को पड़ेगा। इसी प्रकार यदि समग्रता से कहा जाये तो यह कहा जा सकता है कि यह जीवन हमीं को जीना पड़ेगा, हमारे लिए कोई दूसरा हमारा जीवन नहीं जी सकता। इसलिए हमें ही



विचार करना है, हमें ही निर्णय लेना है कि हम अपना जीवन किस प्रकार जियें। यह निर्णय कोई दूसरा नहीं ले सकता क्योंकि हम मनुष्य हैं। यदि हम मनुष्य न होते तो हमारा जीवन कैसा होता इस पर कोई दूसरा निर्णय ले सकता था। इस सम्बन्ध में भेड़ों का उदाहरण अक्सर दिया जाता है। शायद यह सही भी है। भेड़ें एक-दूसरे के पीछे चलती रहती हैं। आगे वाली भेड़ गड़रिये के पीछे चलती रहती है और सारी भेड़ें उसके पीछे चलती रहती हैं। कहा जाता है कि यदि गड़रिया कुएं में उतर जाये तो भेड़ें भी कुएं में उतर जायेंगी। मनुष्य मनुष्य है, भेड़ नहीं है। मनन करने का गुण होने के कारण इसे मनुष्य कहा जाता है। वैसे मनु से उत्पन्न होने के कारण इसे मनुज और आदम से उत्पन्न होने के कारण इसे आदमी कहा जाता है। मनुज और मनुष्य शब्दों में अन्तर है जैसे आदमी और इन्सान शब्दों में अन्तर है। जो मनु की सन्तान है वह मनुज है परन्तु मनुष्य तो उसे बनना पड़ेगा। यदि वह मनुष्य नहीं बनता तो मनुज ही कहला सकता है। इसी प्रकार आदमी को इन्सान बनना पड़ेगा अन्यथा वह आदमी ही रहेगा। यह अन्तर समझने के लिए मिर्जा गालिब साहब का शेर अच्छा रहेगा—

*गो कि मुमकिन नहीं हर काम का आसां होना।*

*आदमी को भी मयस्सर नहीं इन्सां होना॥*

मनुष्य को मनन करना चाहिए। मननात् मनुष्यः। मनन करने के लिए कोई विषय होना चाहिए। कोई साक्ष्य होना चाहिए। साक्ष्य और विषय के सम्बन्ध निरूपण हेतु बुद्धि होनी चाहिए। मनन के बाद ऐसा हृदय होना चाहिए जो उसे अंगीकार कर ले। मनन किसी निर्णय के लिए होता है। अतः हममें निर्णायक बुद्धि होनी चाहिए। हम मनुष्य हैं इसलिए हमारे अन्दर यह सारी योग्यताएं मौजूद हैं। हम सर्वसाधन सम्पन्न हैं। कठिनाई यह है कि हम अपने साधनों से अनभिज्ञ हैं। हम उनकी उपयोगिता ही नहीं समझते। हमें उनकी क्षमता का ज्ञान नहीं है। जरा विचार कीजिए, हमीं ने कम्प्यूटर जैसी मशीन बनाई और हमीं उसकी क्षमता को देखकर दंग हैं। हमारा दंग होना क्या प्रमाणित

करता है? यही कि हमें यह ज्ञान नहीं है कि हमीं वह हैं जिसने यह कम्प्यूटर बनाया है। वैसे हम इसे मानते जरूर हैं लेकिन जानते नहीं हैं। कोई वैज्ञानिक ही हमें बतायेगा कि हमारे मस्तिष्क की क्षमता कितनी है और हम उसका कितना प्रतिशत उपयोग में लाते हैं। बड़े-से-बड़े विद्वान भी, बड़े-से-बड़े वैज्ञानिक भी अपने मस्तिष्क का जो प्रयोग करते हैं, उसका प्रतिशत बहुत कम है। अतः कोई यदि यह कहता है कि उसकी इतनी बुद्धि कहां तो यह समझना चाहिए कि उसे अपनी बौद्धिक क्षमता का ज्ञान नहीं है और यदि कोई यह जानता है कि उसकी बुद्धि इतनी नहीं है तो उसे प्रयास करना चाहिए अपनी बुद्धि को जानने का। सुकरात जैसे दार्शनिक पैदाइशी दार्शनिक नहीं थे। उन्होंने अपने को जानने का प्रयास किया और यह प्रयास साधारण लोगों से बातचीत और तर्क-वितर्क करके उन्होंने प्रारम्भ किया और कहां पहुंचे, यह सब जानते हैं। कहा जाता है कि उन्होंने लोगों से तर्क-वितर्क इसलिए नहीं प्रारम्भ किया कि उन्हें ज्ञान हो जाये, इसलिए भी नहीं कि लोग जानें सुकरात ज्ञानी है बल्कि इस उद्देश्य से प्रारम्भ किया था कि वे जान सकें कि क्या कोई उनसे भी अधिक अज्ञानी है। और देखिए वे अपने को सबसे अधिक अज्ञानी साबित करने के लिए उतारू थे और सबसे अधिक ज्ञानी प्रमाणित हो गये। कहा जाता है कि उनकी एकेडेमी में कोई ज्योतिषी आया, जो चेहरा देखकर व्यक्ति के बारे में बता देता था। शिष्यों ने सुकरात को दिखाकर जो सम्भवतः कुछ दूर थे, उनके बारे में ज्योतिषी से पूछा। ज्योतिषी ने सुकरात का कुरूप चेहरा देखा और बताया कि यह व्यक्ति निहायत मूर्ख है और दुश्चरित्र है। शिष्य कुपित हो गये और ज्योतिषी को मारने-पीटने लगे। बचाव में सुकरात आये। उन्हें जब कारण मालूम हुआ तब उन्होंने शिष्यों को समझाया कि यह सही कहता है। मैं ऐसा ही था, अब नहीं हूं। मैं तो बदल गया, चेहरा नहीं बदला, यह बेचारा क्या करे। इस घटना से भी यही स्पष्ट हो रहा है कि निरन्तर प्रयास से मनुष्य अपनी उस क्षमता तक पहुंच सकता है जो उसे ज्ञात ही नहीं है। हमारे घर में यदि सम्पत्ति दबी है, हमें उसकी जानकारी नहीं है तो वह सम्पत्ति किस काम की है। हमें चाहिए कि हम

अपनी सम्पत्ति, अपने साधन, उनकी क्षमता को पहचान लें और उनका उपयोग करें।

अपनी बात आगे बढ़ाने के पहले थोड़ी भूमिका और। दर्शन छः कहे गये हैं। यदि छः हो सकते हैं तो सात भी हो सकते हैं। वह दर्शन जो घोषित छः दर्शनों सांख्य, मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग और वेदान्त से भिन्न होगा, उसे क्या कहा जायेगा? जैसे कबीर ने जो कुछ कहा, उसमें उन्होंने कुछ स्थापित मान्यताओं को, जो इन दर्शनों से सम्बन्धित हैं, नकार दिया। उन्होंने अपनी मान्यता की स्थापना की। तब कबीर द्वारा स्थापित मान्यताओं को किस दर्शन के अधीन माना जायेगा। आइए काम चलाने के लिए ही सही हम उनके द्वारा स्थापित मान्यताओं को 'कबीर दर्शन' नाम दे देते हैं। उनका दर्शन उक्त छः दर्शनों के अतिरिक्त बौद्ध, जैन आदि नास्तिक कहे जाने वाले दर्शनों से भिन्न है और इस्लाम की मान्यताओं से भी भिन्न है। इस प्रकार उनका चिन्तन एक स्वतन्त्र चिन्तन है।

कबीर के चिन्तन की धुरी या केन्द्र-बिन्दु जीव है। इस धुरी और परिधि से जुड़े हुए अरे भी जीव से ही सम्बन्धित हैं। इसकी परिधि भी जीव से सम्बन्धित है। कबीर का दर्शन ईश्वर दर्शन नहीं है, किसी अज्ञात की खोज का दर्शन नहीं है। उनका दर्शन ज्ञात जीव के लिए है और जीव का है। कबीर का चिन्तन मनुष्य को उसकी पूर्ण गरिमा के साथ उसे पूर्णता प्रदान करना है। कबीर दर्शन किसी वर्ग, समुदाय, समाज विशेष के लिए नहीं है, यह सब के लिए है। कबीर दर्शन जितना संन्यासी के लिए है उतना ही साधु के लिए भी है, उतना ही गृहस्थ के लिए भी है क्योंकि वह मनुष्य के लिए है। उनका दर्शन गुरु के लिए भी है, शिष्य के लिए भी है, माता-पिता के लिए भी है, पुत्र-पुत्री के लिए भी है, स्वामी के लिए भी है, सेवक के लिए भी है। मनुष्य जहां कहीं भी, जिस किसी स्थिति में है, कबीर दर्शन उसके लिए है।

कबीर जैसा व्यक्तिवादी चिन्तन अभी तक हुआ ही नहीं। यह उनकी वाणियों को समझकर जाना जा

सकता है। उनका चिन्तन सार्वकालिक है। वह तब तक प्रासंगिक रहेगा जब तक मनुष्य रहेगा और मनुष्य तथा यह संसार जड़ और चेतन रूप में स्वयंभू होने के कारण सर्वदा सब समय रहेगा क्योंकि इसका न तो कोई आदि था और न कोई अन्त होगा। विडम्बना यह है कि कबीर जैसे चिन्तक को लोगों ने कभी कवियों की श्रेणी में डाल दिया और कवियों से तुलना करके कबीर को हाशिये पर रखने का प्रयास किया गया, कभी उन्हें निर्गुण धारा का सन्त कहकर सीमित करने का प्रयास किया गया, कभी उन्हें समाज-सुधारक कहकर उनके आध्यात्मिक चिन्तन पर ग्रहण लगाया गया। यह सारा कार्य तथाकथित विद्वानों द्वारा सुनियोजित शैली से किया गया। परन्तु प्रकाश को अधिक समय तक रोका नहीं जा सकता। प्रकाश फैल रहा है, फैलता जायेगा। जहां दूसरे लोग किसी ईश्वर को तैंतीस करोड़ देवताओं का स्वामी और सभी जीवों, मनुष्य को उसका दास निरूपित करते नहीं थकते, वहीं कबीर जीव और मनुष्य को सभी ईश्वरों का और देवताओं का कल्पक बताकर मनुष्य को गरिमामय करते हैं। जो साधन मनुष्य के पास हैं वे और किसी के पास नहीं हैं। हमने ईश्वर और देवताओं की कल्पना तो की परन्तु कल्पना में भी उन्हें अपना ही रूप दे सके। हमारा ही रूप सर्वश्रेष्ठ है। हमारे ही कार्य सर्वश्रेष्ठ है इसीलिए हमने अपने ही सर्वश्रेष्ठ रूप और सर्वश्रेष्ठ कार्यों, चेष्टाओं की कल्पना ऐसे ईश्वर और देवता में की। कबीर दुखी होकर कहते हैं—

*अपने गुण को अवगुण कहहू। इहै अभाग जो तुम न बिचारहू।  
तू जियरा बहुते दुख पावा। जल बिनु मीन कौन सँच पावा॥*

वे हमसे कहते हैं कि तुम अपने गुण को अवगुण कहते हो। दुर्भाग्य है कि तुम विचार नहीं करते हो। हे मेरे जीव, तुम बहुत दुख पा रहे हो। तुम्हें जानना चाहिए कि बिना जल के मछली का संचय कौन कर पाया है। संच संयम भी है और सुख भी। यह जल क्या है? यह जल विचारण है। पहले कहा जा चुका है कि मननशील होने के कारण ही हम मनुष्य हैं। यदि हम मननशीलता ही छोड़ देंगे, विचारना ही छोड़ देंगे तो

हम मनुष्य कैसे रहेंगे। मनुष्य न रह पाने के कारण ही हमें दुख प्राप्त हो रहा है, हम अपनी गरिमा अनुभव ही नहीं कर पा रहे हैं।

कबीर दर्शन सबके लिए है। यह सबके लिए उपयोगी है चाहे कोई किसी भी क्षेत्र में हो। जन्म के बाद हमें शब्द रूप में, संस्कार रूप में, परम्परा रूप में जो भी मिला है, उसको यदि संक्षेप में कहा जाये तो यह मिला है कि गृहस्थ अलग हैं, साधु अलग हैं, सन्त अलग हैं, स्वामी अलग हैं, विद्वान अलग हैं आदि। कोई अपने क्षेत्र में दूसरे की दखल नहीं चाहता। राजा अपने क्षेत्र में धर्मगुरु का दखल नहीं चाहता। गुरु अपने क्षेत्र में चले का दखल नहीं चाहता। एक तरह से सबों ने वाटर टाइट कम्पार्टमेंट बना रखा है। मुख्य बात पर आते हैं। संन्यासी या साधु घर आ गया तो पहला प्रयत्न टालने का। नहीं टला तो स्वागत-सत्कार करने का जिसमें दिखाने का भाव अधिक श्रद्धा कम। किसी भी दशा में परिवार के युवकों या बच्चों को उनके सम्पर्क में अधिक न आने देना। केवल प्रणाम, दण्डवत तक सीमित कर देना। डर यह कि हमारा बच्चा कहीं साधु-सन्त न हो जाये। गृहस्थ साधु-सन्त से श्रद्धा रखते हुए भी इस बिन्दु पर डरता है। यह माहौल किसने बनाया है? उन्हीं लोगों ने जिन्होंने मनुष्य को पापी आदि निरूपित किया है, उन्हीं लोगों ने जिन्होंने गृहस्थों को हेय दृष्टि से देखा है, उन्हीं लोगों ने जिन्होंने अपने को साधु वेष या सन्त वेष के कारण मनुष्य से ऊपर रखा हुआ है। ऐसे लोगों के ही कारण और ऐसे लोगों द्वारा ही कबीर को निरगुण उपासक सन्त घोषित कर दिये जाने के कारण लोग कबीर वाणी से दूर हो गये। दूर क्या हो गये, उन्हींने कबीर वाणी की ओर ध्यान ही नहीं दिया। यदि ध्यान देते तो हट ही नहीं सकते थे, यही अन्य लोगों को सबसे बड़ा भय था। रही-सही कसर विद्वानों ने कबीर की भाषा को पता नहीं क्या-क्या कहकर पूरी कर दी। यदि किसी को कबीर की भाषा समझ में नहीं आयी तो उसे यह कहने का अधिकार तो नहीं मिलता कि कबीर की भाषा अबूझ है। अबूझ आपके लिए हो सकती है सबके लिए

नहीं। सम्भव है कि आपने अंग्रेजी माध्यम से हिन्दी पढ़ी हो। यह भी सम्भव है कि आपका गांव-जवार की बोली से कभी पाला न पड़ा हो तो आपके लिए कठिनाई हो सकती है, परन्तु एक ओर तो आप कहते नहीं थकते कि संस्कृत सभी भारतीय भाषाओं की जननी है। जब आप अन्य को समझ लेते हैं तब कबीर को क्यों नहीं समझ पाते? आप ही हिन्दी भाषा को अपनी मानसिकता के अनुसार ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि भागों में बांटते हैं और फिर कहते हैं कि कबीर की भाषा खिचड़ी है। खिचड़ी है तो क्या दोष है। आपने कबीर के पूर्व भाषाओं का यह विभाजन प्रकाशित कर दिया होता और यह आदेश कर दिया होता कि कोई भी अपनी वाणी केवल एक भाषा में कहेगा, तब शायद आपका कबीर की वाणी के सम्बन्ध में, उनकी भाषा के सम्बन्ध में आकलन उचित होता। परन्तु तब भी जब कबीर ने आपका पिंगल नहीं माना, आपके छन्द नहीं माने तब कबीर आपके उस विभाजन को और आपके उस आदेश को कैसे मानते। यह कहकर कि कबीर की वाणी कठिन है, अबूझ है, आपने कबीर को लोगों से दूर कर दिया। ऐसा करके आपने समाज के प्रति अन्याय किया है।

आप किसी भी क्षेत्र में हों, कल्प-विकल्प का द्वन्द्व आपको अवश्य व्यथित करता होगा। इस द्वन्द्व का निवारण आप ही को करना पड़ता होगा। आप इसका निवारण कैसे करते हैं, यह तो मैं नहीं जानता परन्तु यह जानता हूँ कि समस्याओं का निवारण पहले के लोग बातचीत से करते थे, जो आगे जाकर तर्क-वितर्क, शास्त्रार्थ आदि से होता हुआ वीभत्स दशा को प्राप्त हुआ और शास्त्रार्थ के बहाने कल्लेआम तक किये गये। कभी मन्दिर तोड़े गये तो कभी मठ तोड़े गये, कभी शिवालय तोड़े गये। आज शास्त्रार्थ का चलन तो समाप्त हो गया है, अब मुकदमेबाजी का चलन हो गया। पच्चीस साल से अधिक पुराना शायद ही कोई मन्दिर, मठ, धर्मशाला या संगठन हो जिसके सम्बन्ध में कोई अदालती कार्यवाही न चल रही हो। यही हाल गृहस्थों में भी है। शायद ही कोई गांव ऐसा हो जहां

विविध प्रकार के मुकदमे न चल रहे हों। कोई भी सरकारी विभाग ऐसा नहीं है जिसमें लिटिगेशन सेल मुकदमों की पैरवी के लिए न बनाई गयी हो। अब इसे चाहे अदालतों में जनता का विश्वास होना कह लें, चाहे न्याय का सर्वसुलभ होना कह लें, चाहे जनता की जागरूकता कह लें, मुकदमे बढ़ते ही जा रहे हैं। स्वर उठ रहे हैं कानून की पेंचीदगी के विरुद्ध, लचर व्यवस्था के विरुद्ध, न्याय और धन तथा न्याय और बाहुबल की सापेक्षता के विरुद्ध। यह तो राष्ट्रीय परिदृश्य है। आप अपने लिए क्या सोचते हैं? आपका इन अदालतों से शायद कोई सरोकार न हो। आप मुकदमेबाज नहीं हैं, आपका कोई मामला अदालत में ले जाने लायक नहीं है। आपके विरुद्ध अदालत में कोई मामला नहीं है। आपका कोई मन्दिर, मठ नहीं है। आप कहीं के महन्त आदि नहीं हैं। फिर भी मुकदमा तो चलता ही होगा। कभी आप वादी होते होंगे, कभी प्रतिवादी होते होंगे, कभी निर्णायक जज होते होंगे, कभी आप पर निर्णय लागू होता होगा और कभी निर्णय लागू करते होंगे। आपके घर की, आपके समाज की भी एक अदालत है जिससे आपको रोजाना दो-चार होना पड़ता होगा। क्या कभी आपने अपनी अदालत लगाई है? क्या कभी आप ऐसी अदालत लगाते हैं जिसमें आप ही वादी होते हैं, आप ही प्रतिवादी होते हैं, आप ही पक्ष और विपक्ष के पैरोकार वकील होते हैं, आप ही जज होते हैं और आप ही निर्णय लागू कराने वाले होते हैं? और क्या ये सारे किरदार आप एक साथ बड़ी ईमानदारी से निरपेक्ष होकर बखूबी निभा लेते हैं? यदि हां, तो आप वन्दनीय हैं। मेरा वन्दन स्वीकार करें। यदि नहीं तो कृपया ऐसी अदालत लगाकर देखें। अधिक नहीं दिनभर में केवल दस-पन्द्रह मिनट। फिर देखें क्या होता है। मेरा दावा है कि जो कल्प और विकल्प का द्वन्द्व आपको घेरे रहता है, जिसके कारण आपके अन्य कार्य प्रभावित हो जाते हैं, सब कुछ रहते हुए शान्ति और सुख का अभाव रहता है, वह सब समाप्त हो जाएगा।

आपके पास दस मुलाजिम सदैव रहते हैं। इनमें से पांच कर्म करने वाले हैं जिन्हें कर्मेन्द्रियां कहा जाता है, पांच अन्य हैं जो रस, रूप, गन्ध, स्पर्श और नाद की आपको रिपोर्ट प्रेषित करते हैं। इनकी एनालिसिस और टिप्पणियां प्रस्तुत करते हैं। आपको निर्णय करने में समर्थ बनाने के लिए आपके पास एक अन्तःकरण नाम की सेल या कार्यालय है जिसमें मन, चित्त, बुद्धि और हृदय जैसे अहलकार तैनात हैं। कर्मेन्द्रियां खटपट करती हैं। क्या करें, उनका दायित्व ही ऐसा है। खटपट शान्त कर दीजिए। अपने निर्णायक पद की गरिमा में आकर आप सुखासन में विराजमान हो जाइए और अदालत की कार्यवाही प्रारम्भ कर दीजिए। ये जो पांच अहलकार ज्ञानेन्द्रिय के रूप में हैं, इनका अधिकार केवल रिपोर्ट करना है। ये अपनी ओर से कुछ जोड़-घटा नहीं सकते। कठिनाई केवल यह है कि ये अपनी रिपोर्ट सीधे आपको नहीं देते। ये मन को रिपोर्ट करते हैं और मन आपको। मन का दर्जा कुछ ऊंचा है, उसे रिपोर्ट पर अपनी भी टिप्पणी देने का अधिकार है। प्राप्त रिपोर्ट पर मन और हृदय दोनों टिप्पणी देते हैं। अब यदि आप में प्रशासनिक क्षमता है और आप मन और हृदय पर सदैव निगाह रखते हैं, तब आप बुद्धि नामक अहलकार जिसे औरों को अनुशासित रखने का दायित्व है उसे इस काम में लगा देंगे। जब बुद्धि क्रियाशील रहेगी, तब मन और हृदय अपनी सीमा में रहेंगे और टिप्पणी प्रस्तुत करने में सावधानी बरतेंगे। गलत टिप्पणी प्रस्तुत होने पर आप अध्यक्ष हैं, मन, हृदय और बुद्धि को प्रताड़ित करने का आपको अधिकार है। इस अधिकार का प्रयोग किया कीजिए। प्रयोग करने लगेंगे तो शायद प्रयोग करने की आवश्यकता आगे न पड़े। एक बात और। आखिर ये हैं तो अहलकार ही। इनमें आप जितनी क्षमता कहां? आप जितनी योग्यता कहां? अतः आप इनकी समय-समय पर ट्रेनिंग की भी व्यवस्था कीजिए। यह सब हो जाने पर आपका कार्य आसान हो जायेगा। प्राप्त रिपोर्टों, टिप्पणियों पर आप चित्त नामक अहलकार की

सहायता से निर्णय लीजिए और उसे लागू कीजिए। फिर देखिए समस्याएं आपसे दूर भागा करेंगी और आपका निर्णय कभी भी गलत नहीं होगा। मन और हृदय को आपस में बहस करने दीजिए, आप तो केवल सुनिए और जांच परखकर मन और हृदय दोनों से निरपेक्ष होकर सत्य घोषित कर दीजिए, असत्य घोषित कर दीजिए। सत्य को पकड़ लीजिए, असत्य को छोड़ दीजिए।

कहते हैं कि पद या कुर्सी कार्य सिखा देती है। आप झिझकिए नहीं। आप में निर्णायक बनने की पूरी क्षमता है। यदि आप निर्णायक नहीं हो सकते तो कोई और निर्णायक हो ही नहीं सकता। इसे आप मेरी बात मत मानिएगा। यह बहुत प्रसिद्ध विचारकों ने कहा है। कहा गया है—“मैन इज मीजर ऑफ आल द थिंग्स।”

मनुष्य सभी वस्तुओं का पैमाना स्वयं है। हमारा पैमाना कोई और नहीं हो सकता। आपका पैमाना कोई और नहीं हो सकता। हमारे आपके पैमाने अलग-अलग हो सकते हैं। आप यह नहीं कह सकते कि मेरा पैमाना गलत है। यदि आप कहेंगे भी तो भी मैं अपना पैमाना बदलने नहीं जा रहा हूँ क्योंकि अभी भी कोई पैमाना स्थिर नहीं हुआ है। गज, मीटर, लीटर, किलोग्राम, मील आदि स्थिर पैमाने हैं। परन्तु ये जड़ के बारे में हैं। चेतन का अभी तक कोई पैमाना नहीं बना है। आप अपने पैमाने स्वयं हैं। आप अपनी कसौटी स्वयं हैं। आप अपने को अपनी ही कसौटी पर कसिए। यह जान लीजिए कि प्रत्येक चेतन के पास कसौटी उपलब्ध है, बस वह या तो प्रयोग नहीं करता या सीमित प्रयोग करता है। खाना अच्छा है कि बुरा है, मीठा है कि कड़वा है, मकान अच्छा है कि अच्छा नहीं है, पहनावा अच्छा है कि नहीं है, अमुक-अमुक वस्तु हरी है कि पीली है, इस पर तो हम कसौटी लगाया करते हैं परन्तु जो बड़ी बातें हैं उन पर कसौटी नहीं लगाते। उन्हें किसी अन्य पर छोड़ देते हैं। यह अच्छी बात नहीं है। जो वस्तु आपके लिए बहुत अधिक महत्त्व वाली है, उस पर आपको अपना व्यक्तिगत

ध्यान देना चाहिए और यदि कोई ऐसी वस्तु है जो आप ही प्राप्त कर सकते हैं, आपका कोई प्रतिनिधि नहीं, उसे तो आप ही को प्राप्त करना पड़ेगा। आपको भोजन स्वयं करना पड़ेगा, विश्राम स्वयं करना पड़ेगा, दवा स्वयं खानी होगी। आपका कोई प्रतिनिधि आपके लिए यह सब नहीं कर पाएगा और यदि करेगा तो आपको नहीं मिलेगा। ऐसी ही कुछ बातें और हैं जिन्हें हम-आप दूसरों के सहारे छोड़े हुए हैं। कहावत है कि बिना अपने मरे स्वर्ग नहीं मिलता है। हम बिना अपने मरे स्वर्ग इकट्ठा कर रहे हैं। यदि मेरे पास सुख होता तो मैं किसी और के पास न जाता। सत्य है जो हमारे पास नहीं है उसके लिए हम उसके पास जायेंगे, जिसके पास वह होगा। तो क्या सुख पाने के लिए हम ऐसे के पास वास्तव में जाते हैं जिसके पास सुख है? क्या स्वर्ग के लिए हम ऐसे के पास जाते हैं, जिसके पास स्वर्ग है? ज्ञान के लिए क्या हम ऐसे के पास जाते हैं जिसके पास ज्ञान है? मुक्ति के लिए क्या हम ऐसे के पास जाते हैं जो मुक्त हैं? क्या हम सुखी की, स्वर्ग वाले की, ज्ञानी की, मुक्त की जांच करते हैं? क्या हम अपनी कसौटी का प्रयोग करते हैं। हम बिलकुल नहीं करते। जिस तरह हम परम्परा से भोजन करते हैं, उसी तरह हम महत्त्वपूर्ण मामलों पर ध्यान नहीं देते। मिट्टी की हांडी खरीदेंगे तो दस दुकान देखेंगे, मोल भाव करेंगे, ठोकेंगे, बजायेंगे तब लायेंगे। और स्वर्ग ऐसे ही खरीद लेंगे। पुण्य ऐसे ही खरीद लेंगे। बिना जाने, बिना समझे।

सन्त कबीर की कुछ वाणियां प्रस्तुत हैं। इन पर अपना निर्णय दीजिए। क्या ये गूढ़ हैं? क्या ये अबूझ हैं? क्या इनकी भाषा समझ से परे है? क्या ये नास्तिकता की ओर ले जाती हैं? क्या ये किसी को घर-गृहस्थी छोड़ने को कहती हैं? जितना आपने वह सब कुछ सुन रखा है जिसके नाते आप कबीर की वाणियों से दूर भागते हैं, क्या उनमें से कुछ इनमें हैं? क्या ये वाणियां समाज के लिए हानिकारक हैं? क्या ये व्यक्ति के लिए हानिकारक हैं? क्या इनमें पलायनवाद है? क्या इनमें कल्पना है या ये वास्तविकता का आधार लिये हुए हैं? क्या इन्हें तर्क से काटा जा सकता है?

क्या ये अश्रद्धा उत्पन्न करती हैं? क्या इनमें समाज विखण्डित हो जायेगा या जुड़ जायेगा—

जहिया जन्म मुक्ता हता, तहिया हता न कोय।  
छठीं तुम्हारी हौं जगा, तू कहाँ चला बिगोय॥  
शब्द हमारा तू शब्द का, सुनि मत जाहु सरक।  
जो चाहो निज तत्त्व को, तो शब्दहिं लेहु परख॥  
शब्द हमारा आदि का, शब्दहिं पैठा जीव।  
फूल रहन की टोकरी, घोरे खाया घीव॥  
शब्द बिना सुरति आँधरी, कहो कहाँ को जाय।  
द्वार न पावै शब्द का, फिर फिर भटका खाय॥  
शब्द शब्द बहु अन्तरे, सार शब्द मथ लीजै।  
कहहिं कबीर जहाँ सार शब्द नहिं, धृग जीवन सो जीजै॥  
शब्दहिं मारा गिरि परा, शब्दहिं छोड़ा राज।  
जिन्ह जिन्ह शब्द विवेकिया, तिनका सरिगौ काज॥  
शब्द हमारा आदि का, पल पल करहु याद।  
अन्त फलेगी माहली, ऊपर की सब बाद॥  
हंसा तू सुवर्ण वर्ण, क्या वर्णों मैं तोहिं।  
तरिवर पाय पहेलिहो, तबै सराहौं तोहिं॥  
हंसा तू तो सबल था, हलुकी अपनी चाल।  
रंग कुरंगे रंगिया, तैं किया और लगवार॥  
लोभे जन्म गमाइयाँ, पापै खाया पून।  
साधी सो आधी कहै, तापर मेरा खून॥  
पाँच तत्त्व का पूतरा, युक्ति रची मैं कीव।  
मैं तोहिं पूछौं पण्डिता, शब्द बड़ा की जीव॥  
जेहि मारग गये पण्डिता, तेई गयी बहीर।  
ऊँची घाटी राम की, तेहि चढ़ि रहै कबीर॥  
कबीर का घर शिखर पर, जहाँ सिलहली गैल।  
पाँव न टिकै पिपीलका, तहाँ खलकन लादै बैल॥  
बिन देखे वह देश की, बात कहैं सो कूर।  
आपुहिं खारी खात है, बेचत फिरै कपूर॥  
जाके मुनिवर तप करें, वेद थके गुण गाय।  
सोइ देहुँ सिखापना, कोई नहीं पतियाय॥  
बलिहारी वह दूध की, जामैं निकरे घीव।  
आधी साखी कबीर की, चार वेद का जीव॥  
मैं रोऊँ यह जगत को, मोको रोवे न कोय।  
मोको रोवे सो जना, जो शब्द विवेकी होय॥

फहम आगे फहम पाछे, फहम दाहिने डेरि।  
फहम पर जो फहम करे, सो फहम है मेरि॥  
कर बन्दगी विवेक की, भेष धरे सब कोय।  
सो बन्दगी बहि जान दे, जहाँ शब्द विवेक न होय॥  
दादा भाई बाप के लेखों, चरणन होइहौं बन्दा।  
अबकी पुरिया जो निरुवारे, सो जन सदा अनन्दा॥

सन्त कबीर शब्दों के सम्बन्ध में बड़े कंजूस हैं। वे शब्द बेजा खर्च नहीं करते। कंजूसी का आलम यह है कि वे अपने नाम को भी अपनी वाणी में नाम के लिए नहीं डालते, अर्थ के लिए डालते हैं। कबीर एक शब्द है। यह अरबी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ होता है 'महान।' यह ईश्वर के लिए प्रयुक्त होता है। उक्त उद्धरण बीजक के साखी प्रकरण से है। आज से छः सौ साल पहले सामान्य जनता के लिए प्राकृत अर्थात् सामान्य जन की बोली में कही गयी ये वाणियां तब नितान्त सरल रही होंगी। अन्यथा यदि कबीर का उद्देश्य कविता करना होता तो वे प्राकृत बोली और प्राकृत शब्दों का प्रयोग न करते। भाषा के सम्बन्ध में उनके विचार देखने से यह बात और स्पष्ट हो जायेगी—

संस्कृत है कूप जल, भाषा बहता नीर।  
भाषा सतगुरु सहित है, सतमत गहिर गँभीर॥  
संस्कृतहिं पण्डित कहै, बहुत करे अभिमान।  
भाषा जानि तरक करै, ते नर मूढ़ अजान॥  
संस्कृत ही संसार में, पण्डित करे बखान।  
भाषा भक्ति दृढ़ावही, न्यारा पद निर्वान॥  
वेद हमारा भेद है, हम वेदों के माहि।  
जौन भेद में मैं बसूँ, वेदौ जानत नाहि॥

मैं तो समझता हूँ कि इन साखियों में कोई शब्द नहीं है जिसका अर्थ आप न जानते हों। सम्भव है कि प्रथम दृष्ट्या आप किसी शब्द का अर्थ न समझें परन्तु यदि जोर देंगे तो समझ जाएंगे।

कठिनाई शब्दों के ज्ञान में नहीं है। कठिनाई हमारी आदतों में है। यह आदत भी उन्हीं लोगों ने लगाई है जो सत्य-ज्ञान की ओर लोगों को जाने नहीं देना चाहते हैं। कोई भी धार्मिक हिन्दी काव्य ग्रन्थ ले लीजिए, इससे अधिक शब्द आपको मिलेंगे जिसका अर्थ आप नहीं जानते होंगे लेकिन आप इन कठिनाई की ओर ध्यान

नहीं देते क्योंकि उनसे आपको भक्ति रस मिलता है। कबीर की वाणी में आपको दर्शन मिलेगा। जो मनन और चिन्तन मांगता है। शब्दार्थ से कार्य नहीं चलने का। और लोगों ने किस्से कहे हैं, भजन कहे हैं, कीर्तन कहे हैं, नखशिख वर्णन में छन्द कहे हैं, अलंकारों से उसे सजाया है और यदि अत्यन्त संक्षेप में कहा जाये तो और लोगों ने कविता की है जबकि कबीर ने चिन्तन किया है। कबीर वैदिक अर्थ में कवि हैं जहां कवि को क्रान्तिद्रष्टा माना जाता था। वैदिक संस्कृति के अनुसार ऋषि और कवि में कोई विशेष अन्तर नहीं था। ऋषि द्रष्टा होता था और कवि क्रान्तिद्रष्टा होता था।

कबीर दर्शन हमारे जैसे संस्कार वालों को बड़ा गरिष्ठ लगता है। उसका स्वाद अच्छा नहीं लगता। कहां तो केवल पाठ कर लेने से कोई चीज सिद्ध हो जाती है, केवल गा लेने से हरिपद मिल जाता है और कहां कबीर कहते हैं, शब्दों को परखो! फिर उनकी साखी को पहेलो। शब्दों में अन्तर होता है, इसे जानो! कौन शब्द आदि के हैं और कौन आदि के नहीं हैं, इसे जानो! शब्दों को जानकर, परखकर अंगीकार करो! अब इतने पचड़े में हम पड़ना नहीं चाहते, कठिनाई यही है।

कबीर की वाणियां व्यक्ति के लिए हैं। उनकी शैली उपनिषद् शैली है। वे श्रोता से अर्थात् हमसे सीधे रू-ब-रू हैं, बीच में कोई नहीं है। अब ऐसे माहौल में घुटन तो होगी ही। कोई झांझ, मजीरा, ढोलक भी नहीं है। राग-रागिनियां नहीं हैं। मिर्च-मसाला नहीं है तो स्वाद कहां से आयेगा। हम स्वाद के आदी हो चुके हैं। हमें सरलता अच्छी ही नहीं लगती। मिलावटी दूध पीते-पीते हममें शुद्ध दूध पचाने की क्षमता ही नहीं रही। वनस्पति घी, रिफायन्ड तेल खाते-खाते शुद्ध देशी घी का स्वाद भी अटपटा लगता है और पचता भी नहीं। यदि कोई फिर भी हिम्मत करे तो अध्यात्म के डॉक्टर बैठे हैं, वे कह देंगे कि इससे सेहत को नुकसान पहुंचेगा। हम प्रारम्भ करेंगे नहीं, उसके पहले कोई विद्वान हमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी की टिप्पणियां

सुना देगा। औरों की टिप्पणी गोल कर जायेगा। ऊपर साखी में है—“साधी सो आधी कहे तापर मेरा खून।” वे हजारी प्रसाद द्विवेदी जी की टिप्पणी नहीं बताएंगे, आधी बात बताएंगे। परन्तु मुझे मालूम है कि आचार्य और डॉक्टर में क्या अन्तर होता है। हमें मालूम है कि एफ ए और एम ए में क्या अन्तर होता है। हमें तो यह भी मालूम है कि साहित्य में भारत के लिए प्रथम नोबेल पुरस्कार प्राप्त करने वाले श्रद्धेय गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर जी महात्मा कबीर की वाणियों पर क्या विचार रखते थे। आप भी अवलोकन करें।

रवीन्द्रनाथ टैगोर जी ने भारतीय दर्शन और धर्म के प्रति अंग्रेजों में भ्रम और घृणा देखकर उनका भ्रम मिटाने के उद्देश्य से यह समझकर कि इसके लिए कबीर की वाणी सर्वाधिक उपयुक्त होगी, उनके पद चुने और उनका अंग्रेजी में अनुवाद किया। इसका नाम उन्होंने ‘वन हण्ड्रेड पोयम्स ऑफ कबीर’ रखा। इसका विश्व की लगभग समस्त बड़ी भाषा में अनुवाद हुआ। डॉक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ही कबीर के विषय में उनकी आंखें खोली थीं। परम सन्त अभिलाष साहेब ने अपने कबीर दर्शन नामक ग्रन्थ में एक घटना का उल्लेख किया है।

एक बार रवीन्द्रनाथ टैगोर ने श्रीयुत भगवानदीन से कहा—“हम बंगालियों ने तो संस्कृत इसलिए अपनायी कि हमारे पास शब्द नहीं थे। अध्यात्म के लिए जितने शब्द चाहिए, उतने शब्द बंगला भाषा नहीं दे सकती। पर तुमने कबीर जैसे सन्त के रहते संस्कृत क्यों अपनायी? कबीर ने तो हिन्दी भाषा में अध्यात्म की सभी बातें लिख दी हैं और सारी शब्दावली तुम्हें दे दी है।” यह उद्धरण सरिता पत्रिका, सितम्बर, के पृष्ठ दस से लिया गया है।

मैंने आपके समक्ष केस रख दिया। बहस भी कर ली। आपकी अदालत जारी है। कम-से-कम जब आप यह लेख पढ़ रहे हैं, उस समय आप अपने निर्णायक वाले पद पर विराजमान हैं। निर्णय आपका। आपका निर्णय ही सर्वोपरि है।

(‘मोरा हीरा हेराय गा कचरे में’ से साभार)

## परमार्थ पथ

### सद्गुरु ज्ञान ठिकाना है

बीती हुई राग-द्वेष-जनित बातों एवं घटनाओं की याद न करो। आगे के लिए किसी प्रकार राग-द्वेष की कल्पनाओं को चित्त में आश्रय न दो। मन की कल्पनाएं मृगमरीचिका की भांति भ्रमपूर्ण होती हैं और उनमें डूबकर समय तो नष्ट होता ही है, मन में गलत संस्कार पड़ते हैं जो बंधन बनते हैं। सब समय स्वरूपभाव एवं आत्मभाव में रहो। इसी की आदत बनाओ, इसी में मन की प्रबलता करो। निरंतर आत्मचिंतन परम साधना है। इसके ऊपर तो केवल संकल्प-शून्यता है। संकल्प-शून्य दशा उच्चतम दशा है। संकल्प-शून्य आत्म-शून्य नहीं है। शून्य को जानने वाला शून्य नहीं है। संकल्प-शून्य होने पर सारा प्रपंच समाप्त होकर कैवल्य पद शेष रहता है।

सबसे अच्छा है मन का स्वच्छ होना, जिससे स्थिर सुख मिलता है और यह काम बहुत सरल है। केवल अपने मन के अहंकार को दूर करना है। कौन मेरे साथ है? सब कुछ छूटने वाला है। फिर किसका अहंकार किया जाये। जो साधक सारी भौतिक उपलब्धियों के अंत को देखता है और यह दृष्टि निरंतर बनी रहती है, वह मुक्ति में जीता है।

मेरे विषय में क्या बीता, किसने क्या कहा और कहता है, इसका मूल्य नहीं है। मेरे मन की स्थिति क्या है, इसका मूल्य है। लोगों से सत्कार या तिरस्कार पाने की कल्पना में अपने मन का आंदोलित रहना अपनी दुर्बलता है। मेरे लिए कोई क्या सोचता है, इसका कोई मूल्य ही नहीं है। मूल्य है मेरे मन के सोचने का। सारे द्वंद्व जब कुछ नहीं लगते हैं, तब अपना मन सही दशा में रहता है। हमें सावधानी से अपने मन को निरंतर

देखना चाहिए। उसे शुद्ध निर्द्वंद्व, एकाग्र, अंतर्मुख और आत्मलीन रखना चाहिए। जो अपने मन को निरंतर अंतर्मुख रखता है, वह परम सुखी है।

अपने लोग जब हमारे विषय में गलत सोचते, गलत बोलते और गलत व्यवहार करते हैं, तब हमें अमर्ष एवं दुःख होता है। परंतु विचारकर देखिये इस संसार में अपना कोई है ही नहीं, तब किसी के अप्रिय व्यवहार से हमें दुःख कैसा? सब सजाति जीव हैं। जहां तक संबंध हो, सबसे यथाशक्ति सुंदर एवं समता का व्यवहार करो और अपने असंग स्वरूप चेतन में स्थित रहने का अभ्यास करो। मिथ्या बातों में मन उलझाकर क्यों कुतर्क में पड़ते हो? अंत की बात सोचो, किसी से क्या संबंध रहेगा? जीव तो अकेला है। अतएव अपने अकेलेपन का निरंतर स्मरण करो। किसी को दुःख न दो और स्वयं आत्मसंतुष्ट रहो।

यदि तुम ऐसे शिष्यों के गुरु बनते हो जो तुम्हारे साथ में रहने वाले हैं, तो इसका फल तुम्हें भुगतना पड़ेगा। उन शिष्यों में जो बुद्धि और श्रद्धा के दुर्बल लोग होंगे, वे समय-समय से कलह करेंगे और तुम्हारे सिर पर भी ठीकरे फोड़ेंगे। यदि तुम्हारे में वैराग्य की प्रबल स्थिति नहीं है तो ऐसे शिष्यों के बीच में तुम्हारी शांति खो जायेगी और तुम भीतर से पीड़ित हो जाओगे। अतएव साथ में रहने वाली समर्पित शिष्य-मंडली बनाने की भूल न करो। अपने वैराग्य को सम्हालो। प्रखर वैराग्यवान ही शिष्यों के जंजाल में रहते हुए स्वयं शांत रह सकते हैं। सबसे निष्काम और निर्मान रहना ही सुख का रास्ता है। सद्गुरु कबीर कहते हैं—जो मिला सो गुरु मिला, शिष्य न मिलिया कोय।

गुरु पाप नहीं करता है, अपितु शिष्यों को सन्मार्ग बताता है और उनकी रक्षा करता है। किंतु जब शिष्य नाम से मनुष्य उसके पास इकट्ठे होंगे तब वे सब एक समान गहरी समझ और शुद्ध समर्पणभाव वाले तो नहीं होंगे। उनमें अधकचरे भी होंगे। वे तथ्य न समझकर



अयुक्त धारणा बनायेंगे। अयुक्त बात करेंगे और अयुक्त व्यवहार भी करेंगे; और इन सबको निर्विकार भाव से सहकर उन्हें सही रास्ता दिखाना या त्याग भी करना पड़ेगा। वैसे, गुरु किसी को नहीं त्यागता, किंतु गलत शिष्य अपनी खोटी करनी से स्वयं भटक जाता है। कुल मिलाकर मनुष्यों के हुजूम में रहकर सहने के अलावा कोई चारा नहीं है और उसे भी निर्विकार होकर।

\* \* \*

जो दुखदायी स्मरण उठे उसे तुरंत छोड़ दो। स्मरण त्यागना चाहिए। बोलना त्यागना चाहिए, देखना, छूना, सुनना, करना आदि त्यागना चाहिए। जो निर्वाह में आवश्यक है, केवल उसी का व्यवहार करना चाहिए। अंतिम स्थिति दृढ़ करने के लिए संकल्प-शून्य, वाणी-शून्य एवं क्रिया-शून्य होना चाहिए। निज स्वरूप चेतन शुद्ध, निर्विकार, कर्ता-भोक्ता पन से रहित, असंग एवं केवल है। इन लक्षणों को रहनी में साधना चाहिए। सारी कामनाओं और अहंकार से रहित हो जाओ। देह में रहते हुए विदेह-भाव में जीयो, तभी मुक्ति का साम्राज्य मिलेगा। इन क्षणिक लौकिक उपलब्धियों में अपना मन फंसाने वाला भटका हुआ है।

\* \* \*

परम शांति में जीने के लिए अपने माने गये शरीर के नाम, रूप, गुण, स्वभाव, योग्यता आदि के अभिमान तथा ममता का त्याग करते रहना अत्यंत आवश्यक है। अपने को मारने के अलावा परम शांति का कोई रास्ता ही नहीं है। इस क्षणिक सम्मेलन में कौन किसका है? क्या रह जाता है? तुम्हारे पास सब समय केवल तुम रहते हो। तुम अपने को केवल रूप में हरक्षण जब तक नहीं रखोगे, तब तक परम सुखी नहीं हो सकते हो। अकिंचन हो जाओ। अपने को सबसे पीछे और नीचे कर लो। तुम्हारे ऊपर जो कुछ द्वंद्व आवे उसे अपना कर्मफल भोग समझकर निर्विकार भाव से सहो। किसी को धोखा मत दो। अपने को सब तरफ से समेटकर अपने आप में लीन होओ।

\* \* \*

दुख तो कहीं है ही नहीं। क्योंकि अपना अस्तित्व सर्वथा दुखहीन है और अपने से अलावा शरीर से लेकर सारे संबंधित दृश्य धूल-मिट्टी हैं। उनके बनने-बिगड़ने में कोई हानि-लाभ नहीं है। यह जीवन स्वप्न के तुल्य चल रहा है और एक दिन रुक जायेगा। जीवन के बाहरी खोल—देह, प्राण, मन, बुद्धि, अहंकारादि नकली हैं, भौतिक हैं और मेरा अपना शुद्ध अस्तित्व चेतन है, आत्मा है। आत्मा असंग, केवल और अकेला है। यही स्वरूप है। इसी में निरंतर निवास भजन है।

\* \* \*

चित्त की शांति जीवन का परम सुख है। इसकी सुरक्षा प्राणपण से करना चाहिए। माया की सारी चीजें नश्वर हैं। उन्हीं के लिए मनुष्य अपने चित्त को क्षुब्ध करता है और अंततः वे नहीं रह जाती हैं। इस प्रकार वह दोनों तरफ से असफल हो जाता है। जिन माया की वस्तुओं के लिए वह चित्त को क्षुब्ध किया, वे रही नहीं, और शांति को पहले ही खो दिया। शांति ही महा सुख है। अहंकार ही हर जगह हमें उलझता है। जो अपने अहंकार को हरदम देखता है और उसे नष्ट करने की दृष्टि रखता है, वह कहीं नहीं उलझता। थोड़े दिन का शरीर है, इसमें सावधानी से रहकर अपने को सब तरफ से प्रपंच से बचाकर गहरी आत्मशांति लो।

\* \* \*

अपने को अच्छे रूप में प्रदर्शित करना अपना ओछापन है। अच्छा रहा जाता है भीतर से और आचरण में और प्रदर्शित किया जाता है वाणी और दिखावे के हाव-भाव में। किसके सामने प्रदर्शित करना। सब तो नश्वर है। जो तुम्हें अच्छा मानेंगे, वे कुछ दिन में मर जायेंगे और तुम्हारा भी भौतिक शरीर नष्ट हो जायेगा। सारा राग-द्वेष क्षणिक वस्तुओं के लिए है, इस तथ्य को समझकर विवेकवान सदा शांत भाव से रहता है। किसके लिए उत्तेजना में पड़ा जाये। तुम इसको पूर्व से देख रहे हो, सारा दृश्य भागता जा रहा है। जब कुछ भी स्थिर नहीं है, तब राग-द्वेष किस बात को लेकर किया जाये। अतएव शांत, शांत, शांत। □

## हर क्षण दर्शन होता है

लेखक—बरसाइत दास महंत

कबीर से क्षुब्ध होकर एक बार पण्डित तथा मौलवी उनको घेरे हुए थे। ईश्वर को लेकर बहस छिड़ी हुई थी। कोई ईश्वर का निवास मन्दिर में बताता था, तो कोई मस्जिद में। कोई ईश्वर की प्राप्ति माला जपने में बताता था, तो कोई नमाज पढ़ने में। कोई तप करने में, तो कोई सिजदा करने में। कबीर साहेब पण्डितों तथा मौलवियों दोनों को आड़े हाथ लेते हुए तथा उनके आडम्बर पर प्रहार करते हुए कहते हैं—

न जाने तेरा साहब कैसा है?  
मस्जिद भीतर मुल्ला पुकारे  
क्या साहेब तेरा बहरा है।  
चिंवटी के पग नूपुर बाजे  
सो भी साहब सुनता है।।  
पण्डित होय के आसन मारे  
लम्बी माला जपता है।  
अंतर तेरे कपट कतरनी  
सो भी साहब लखता है।।

इस पर क्रुद्ध होकर पण्डित तथा मौलवी दोनों कबीर से पूछ बैठते हैं कि—“बताओ कबिरा, तेरा साहब कैसा है?”

तब कबीर बड़े ही रहस्यमय ढंग से उत्तर देते हैं—

आंखें खुली हों या हों बन्द  
दीदार उनका होता है।  
कैसे कहूं तुम्हें मुल्ला जी,  
साहब ऐसा होता है।।  
घट-घट में वह ईश विराजे  
हर क्षण दर्शन होता है।  
कैसे कहूं तुम्हें पण्डित जी,  
ईश्वर ऐसा होता है।।

तब वे हठ करते हुए कबीर से कहते हैं—“कबिरा तुम्हें बताना ही होगा कि ईश्वर कैसा है?”

तब कबीर साहेब कहते हैं—

जैसे फूलों में सुगन्धि है  
जैसे सूरज में जोती।  
तेरा साहब तेरे दिल में  
क्यों परतीत नहीं होती?

जैसे तिल में तेल रहत है,  
जैसे सागर में मोती।  
वैसे घट-घट राम बसत है,  
तुमको शंका क्यों होती?

जैसे मृगा नाभि कस्तूरी,  
वन-वन फिरत उदासी है।  
जल बिच मीन पियासी मित्रो!  
सुनि-सुनि आवत हांसी है।।

ऐसी दशा जगत की भाई,  
आती मुझे रूवासी है।  
आतम ज्ञान बिना नर भटकत,  
कोई काबा कोई काशी है।।

जिसका ध्यान धरें विधि-हरि-हर,  
मुनिजन सहस अठासी जी।  
वह सबके घट बीच विराजत  
परम पुरुष अविनाशी जी।।

हाजिर है उसे दूर बतावें  
हैं कैसे ये ज्ञानी जी?  
कहत कबीर सुनो भई मुल्ला  
यह तो है नादानी जी।।

झूठ कहो तो दुनिया रीझे  
सत्य कहो तो खीजे जी।  
कहत कबीर सुनो भई पण्डित  
अन्धों का क्या कीजे जी।।

## आज के इस कलयुग को टालो

रचयिता—कुमारी पविता

कलयुग-कलयुग कहने से,  
न कलयुग टल पाएगा।  
हाथ पे हाथ धरे रहने से,  
न सतयुग वापस आएगा।  
बदलना है जो देश को अपने,  
तो कुछ करके दिखाना है,  
बने चाहे जिस तरह,  
सुन्दर देश बनाना है।  
मन में फिर से साहस भरके,  
अपने देश को आज बचा लो  
आज के इस कलयुग को टालो।।  
न अच्छाई दिखे कहीं भी,  
चारों तरफ बेइमानी है।  
घूस बिना कोई काम करे न,  
यह कैसी मनमानी है।  
पैसा सब कुछ रहा यहां पर,  
भाई न भाई का रह पाया।।  
झूठ यहां हर इंसान बोले,  
सच न कोई कह पाया।  
हर अच्छाई अब अपनाकर,  
पाप को अपने मन से निकालो  
आज के इस कलयुग को टालो।।

हर जगह अब सुनने में तो,  
गलत विचार ही मिलते हैं।  
जहां सुगंध का फूल था खिलना,  
अब दुर्गन्ध के खिलते हैं।  
प्रेम नहीं है किसी के दिल में,  
राग द्वेष ही छाया है।  
लूट-पाट, चोरी डकैत से,  
पाना चाहें सब माया है।  
बोल के मीठी बातें सभी से,  
प्रेम की दुनिया अब तो बसा लो।  
आज के इस कलयुग को टालो।।  
कार्य नहीं है कोई ऐसा,  
जो मानव न कर पाये।  
जीना होता है व्यर्थ उसी का,  
कुछ किए बिना जो मर जाये।  
जो तु चाहे सब कुछ अच्छा हो,  
तो तुझे ही सामने आना है।  
बुरा कर्म करने वालों को,  
नेक राह में लाना है।  
देश सुधारक बनकर अब तुम,  
जिम्मेदारी स्वयं उठा लो,  
आज के इस कलयुग को टालो।।

## बोझ बागबां का

रचयिता—डॉ. अमृत सिंह

नहीं सम्भलता बोझ बागबां का, नूतन पीढ़ी से,  
जो छू लिए आकाश, जिन कंधों की चढ़ सीढ़ी से।  
रहे बहाते खून पसीना, जिन्हें धूप से रहे बचाते,  
एक एक कर गये किनारा, जीवन की संध्या के आते।  
ढेरों दीं आशीषें जिनको, जीवन उनके धन्य हो गये,  
भूले वे ममता की लोरी, इतने वे सभ्य हो गये।  
मांगी जिनके लिए मन्त्रों, दरगाहों के काटे चक्कर,  
फिरे भटकते पीर औलिया, चूरचूर हो थककर।  
उंगली पकड़ सिखाया चलना, सूखे में सदा सुलाया,  
जाने कितनी नजर उतारीं, देखा जब चेहरा मुरझाया।

भोग रहे तनहाई निर्मम, खाकर काल थपेड़े,  
कहें व्यथा किससे भला, ये जिन्दगी के हैं बखेड़े।  
श्रद्धाभाव हुआ भूमिगत, रिश्ते बेईमान हो गये,  
मौन ओढ़ बैठी मानवता, सपने अंतर्ध्यान हो गये।  
बूढ़ी काकी रहती घर में, बेवश पड़ी अकेली,  
नहीं पूछने वाला कोई, कैसी विषम पहेली।  
जो पी न सके पानी हाथों से, उनकी करुण कहानी,  
ढली सांझ जीवन की बेला, अखरे चोट पुरानी।  
देते जितने दर्द अपने, किससे कहें शिकवा गिला,  
मन को मना लें मानकर, जितना लिखा उतना मिला।

है सांप सीढ़ी खेल जिन्दगी, धूप छांव का साथ,  
कभी जेठ की तपन तो, कभी सावन की बरसात।।

## आखिरी पारी

लेखक—श्री भावसिंह हिरवानी

जब से सेवानिवृत्त हुए थे, माखन लाल की दिन-चर्या ही बदल गयी थी। नींद खुल जाती मगर देर तक अलसाये-से बिस्तर पर पड़े रहते। उनकी पत्नी वन्दना उठने को कहती तो वे कहते, “अब किस बात की जल्दी है? कौन-सा दफ्तर जाना है मुझे, जो देरी हो जायेगी? सेवानिवृत्ति का मतलब है आराम, सिर्फ आराम।” और वे मुंह ढांपकर सोने का स्वांग करते।

उनकी पत्नी अक्सर मुस्कराती हुई खीझ उठती, “ठीक है, मैं नहाने जा रही हूँ। चाय रख दिया है, ठंडी हो जाये तो बहू से कहकर गरम करवा लेना या खुद ही गरम कर लेना।” इतना सुनते ही वे हड़बड़ा कर उठ बैठते “अरे नहीं, लाओ चाय पी ही लेता हूँ।” प्रायः इसी तरह उनकी दिनचर्या की शुरुआत होती। कुछ दिनों तक ऐसे ही चलता रहा लेकिन बाद में महसूस होने लगा, इस तरह जीना तो बहुत मुश्किल है। जब तक नौकरी में रहे समय की कमी थी। अब समय बिताना एक बड़ी समस्या थी। शुरू-शुरू में यार-दोस्तों के घर जाते रहे किन्तु वहां भी बार-बार जाना संभव नहीं था।

इसके बाद सगे-सम्बन्धियों के यहां भी घूम आये। तीन-चार बार तीर्थाटन करके भी पुण्य कमा लिये। अंत में फिर वही खालीपन उनके सामने पांव पसार कर बैठ गया। और उन्हें लगने लगा कि अब तो करने को कुछ भी बाकी नहीं है। समय कैसे बीतेगा, कितना सोयेंगे, कितना घूमेंगे, रोज-रोज किसके पास बैठेंगे? वे अन्य सेवानिवृत्त व्यक्तियों के विषय में जानकारी लेने लगे। मालूम पड़ा, एक दो को छोड़कर सबकी यही दशा है। देवशरण बाबू तो रिटायरमेंट के दो साल बाद ही परलोकी हो गये। नौकरी में थे तो दिन भर में आठ-दस बार मुफ्त की चाय पी जाते थे। घर बैठना हुआ तो सब छूट गया। अब कोई पूछने वाला न था। धीरे-धीरे अवसादग्रस्त हो गये और एक दिन नींद की गोली खाकर सदा के लिए सो गये।

परमा साहब प्राचार्य पद से सेवानिवृत्त हुए थे। उनका अहंकार उन्हें घर से बाहर निकलने नहीं देता था। बड़े अधिकारी थे, छोटे-मोटे काम करेंगे तो लोग क्या कहेंगे? सो दिन भर घर में पड़े रहते। सारा दिन पेपर पढ़ते या टी.वी. देखते। पहले आंखों में मोतियाबिन्द उतर आया। फिर कान से सुनाई देना भी बंद हो गया। बल्ड प्रेशर और शुगर तो पहले से ही था। एक दिन अचानक ब्रेन हेमरेज हुआ और चल बसे। साफ नजर आ रहा था कि जितना अधिक आराम करेंगे मौत उतनी ही तेजी से वार करेगी।

लोगों की दशा देख उनके भीतर उथल-पुथल होने लगी। जिन्दगी की इस आखिरी पारी को किस तरह व्यवस्थित ढंग से जीयें कि शेष जीवन सुखपूर्वक कट जाये। उनकी पत्नी उनके मानसिक द्वन्द्व को अच्छी तरह महसूस कर रही थी, पर बोली कुछ नहीं। आखिर एक दिन माखन लाल ने अपनी पत्नी से ही पूछ लिया “मुझे इस खालीपन से घबराहट होने लगी है। तुम्हीं बताओ, मैं क्या करूँ?”

माखन लाल के सवाल का जवाब उनकी पत्नी ने सवाल से ही दिया था, “अच्छा यह बताओ, आपके रिटायरमेंट से मुझे क्यों फर्क नहीं पड़ा?”

उन्होंने कहा, “क्योंकि तुम पहले की भांति आज भी घर-गृहस्थी के कामों में लगी रहती हो।”

“तो आप भी घर-गृहस्थी के कामों में क्यों नहीं लग जाते? आपका मन भी लगा रहेगा, समय बीतेगा, और शरीर भी स्वस्थ रहेगा।” उनकी पत्नी बोली थी।

“जब करने लायक था तब तो कुछ नहीं किया, अब तुम मुझे घर-गृहस्थी का काम करने को कहती हो। यह सब मुझसे नहीं होगा।” माखन लाल उखड़ गये थे।

“तो फिर आराम से पड़े रहो न, कौन आपको काम करने को कहता है? आपने पूछा तो मैंने

बताया।” उनकी पत्नी मुस्कुराती हुई वहां से चली गयी थी।

माखन लाल सोच में डूब गये थे, और उनका अतीत उनकी स्मृति पटल पर चलचित्र की भांति उभरता चला गया था—पढ़ाई के बाद उनकी पहली नियुक्ति नायब तहसीलदार के रूप में हुई थी। इस तरह वे शुरू से ही साहब बन गये और जिन्दगी भर साहबी का लबादा ओढ़े जीते रहे। बाद में उनका प्रमोशन तहसीलदार के पद पर हो गया। उन्होंने घर-गृहस्थी के कार्यों की ओर कभी ध्यान नहीं दिया। उन्हें कभी इसकी जरूरत ही नहीं पड़ी। पहले उनके खाने-पीने की व्यवस्था कर्मचारी संभालते रहे, शादी के बाद उनकी पत्नी संभालने लगी। उनकी जिम्मेदारी पत्नी को समय पर राशि उपलब्ध कराने तक ही सीमित थी। बाकी व्यवस्था सम्बन्धित कर्मचारी या उनकी पत्नी कहां से कैसे करती हैं, इसकी चिंता उन्हें कभी नहीं रही। उन्होंने कभी एक गिलास पानी भी स्वयं निकाल कर नहीं पीया। सब कुछ पहले से ही मेज पर रखा मिलता, यहां तक कि बच्चों के परवरिश की जिम्मेदारी भी उन्होंने पत्नी के ऊपर छोड़ दिया था।

उनकी पहली संतान लड़की थी, जिसे वे सुधा कहकर पुकारते थे। सुधा अपने मां-बाप की लाडली थी। उसके जन्म के पांच साल बाद उनका बेटा रोशन पैदा हुआ था। दोनों बच्चे पूरी सुख-सुविधा के बीच पले-बढ़े। समय बीतता गया और सुधा कालेज तक पहुंच गयी। लेकिन दुर्भाग्य, अन्तिम वर्ष की पढ़ाई के बाद एक दिन वह चुपचाप एक विजातीय लड़का के साथ भाग गयी।

इस अप्रत्याशित घटना ने माखन लाल और उनकी पत्नी को भीतर तक झकझोर कर रख दिया। उनकी पत्नी कई दिनों तक बदहवास-सी बनी रही। बहुत सोचने पर भी उन्हें समझ नहीं आता था कि सुधा ने ऐसा क्यों किया? अपने कलेजे के टुकड़े के लिए उन्होंने कैसे-कैसे सपने नहीं संजोये थे। किन्तु एक झटके में उस नादान लड़की ने उन्हें मानो आकाश से जमीन पर ला पटका था। उनकी दशा पिंजरे की उस

पक्षी की तरह हो गयी थी जो बाहर से खामोश बना रहता है लेकिन भीतर ही भीतर रोता है। उन्हें लगता था वे किसी को मुंह दिखाने के काबिल नहीं रहे। हमेशा हंसते-मुस्कुराते रहने वाले माखन लाल ने अपने को घर और दफ्तर के बीच तक सीमित कर लिया।

वक्त धीरे-धीरे हर घाव भर देता है। समय के साथ उनकी जिन्दगी फिर पटरी पर लौट आयी। यद्यपि सुधा की याद वे कभी भुला नहीं पाये, पर यह सोच कर तसल्ली कर लिया कि जो भाग्य में लिखा था वही हुआ। अब उनकी सारी आशा-आकांक्षा रोशन पर आकर टिक गयी थी। सौभाग्य से रोशन ने उन्हें कभी निराश नहीं किया। पढ़ाई पूरी करने के बाद उसे घर के पास ही शिक्षक की नौकरी मिल गयी। इसके बाद उन्होंने रोशन की शादी कर दी। माखन लाल की सेवा निवृत्ति के वक्त रोशन के बेटा-बेटी दोनों हाई स्कूल में पहुंच गये थे।

अब बेटा-बहू और पोता-पोती के संग रहने में माखन लाल को बहुत आनन्द आ रहा था। किन्तु कुछ समय बाद वे खालीपन के एहसास के उकताने लगे। और जब जीवन के अन्तिम पड़ाव में आकर उन्हें घर-गृहस्थी के काम करने की बात आयी तो वे सोच में पड़ गये। कैसा लगेगा जब वे थैला लेकर बाजार जायेंगे? दुकान में जाकर धनिया-मिर्च या तेल-नून खरीदेंगे? लोग हंसेंगे, “देखो, बेचारे तहसीलदार साहब को रिटायरमेंट के बाद झोला लेकर सामान खरीदने जाना पड़ता है।” डिब्बा लेकर दूध लेने जाना क्या उन्हें अजीब नहीं लगेगा? नहीं, यह सब नहीं होगा उनसे। वे कई दिनों तक उहापोह की स्थिति में डूबे रहे कि क्या करें, क्या नहीं करें? अंत में वे इसी नतीजे पर पहुंचे कि घर का काम करने में कोई बुराई नहीं है। लोग हंसते हैं तो हंसते रहें।

उन्होंने अपने निर्णय की जानकारी पत्नी को दी तो खुशी के मारे उसका चेहरा गुलाब की तरह खिल उठा। उन दोनों के बीच पानी मिले दूध को लेकर कई बार चर्चा हो चुकी थी। दूध वाले को बहुत बार बोल चुके थे कि कीमत बढ़ा लो पर शुद्ध दूध दिया करो, किन्तु

वह मानता ही नहीं था। मजबूरी में उसी से गुजारा करना पड़ता था। घर से दो किलोमीटर दूर डेयरी से शुद्ध दूध मिल सकता था मगर रोज जाकर लाना एक बड़ी समस्या थी। माखन लाल ने कहा, “आज दूध वाले का हिसाब कर दो। कल से डेयरी जाकर दूध मैं लाऊंगा।” और बाजार जाकर बर्तन दुकान से दो डिब्बा खरीद लाये। उनके इस कदम से घर में खुशी की लहर दौड़ गयी। बच्चे हंसने लगे, “अच्छा, दादा दूध लेने जायेंगे?” पहले दिन अजीब लगा, पर धीरे-धीरे सब सामान्य हो गया। एक तो बुजुर्ग, दूसरा साहब, सब लोग उनका आदर करते। कोई दादा कहता, कोई बाबू जी, कोई सर जी कहकर सम्बोधित करता तो उन्हें बहुत अच्छा लगता।

धीरे-धीरे उनकी पूरी दिनचर्या ही बदल गयी। मनहारी का सामान लाना होता तो बहू लिस्ट बनाकर बच्चों के हाथ भिजवा देती और वे कार लेकर सामान खरीद लाते। सब्जी खरीदनी होती तो बाइक या स्कूटर लेकर चले जाते।

अब उन्हें घर के छोटे-मोटे कार्यों को निबटाने में मजा आने लगा। वे जहां रहते थे, वह न गांव था न शहर। उनकी जिन्दगी बेटा-बहू तथा पोता-पोती के संग मस्ती से गुजरने लगी। इसी बीच उनके बेटे का प्रमोशन जिला के बाहर काफी दूर एक स्कूल में हो गया तो उनके सामने एक साथ कई परेशानियां आ खड़ी हुईं। बहुत सोच-विचार कर निर्णय लिया गया कि बेटा-बहू दोनों नई जगह पर चले जायें। बच्चों को वहां ले जाना ठीक नहीं रहेगा क्योंकि दोनों को ही इस वर्ष बोर्ड की परीक्षा देनी है।

इस कसबा से शहर पच्चीस किलोमीटर दूर था। जहां वे पढ़ते थे। स्कूल बस की सुविधा होने से उन्हें कोई परेशानी नहीं थी। बेटा-बहू के चले जाने से बच्चों की व्यवस्था की जिम्मेदारी अब माखन लाल और उनकी पत्नी के ऊपर आ गयी। बाहर का काम तो वे कर ही रहे थे, उनकी पत्नी काम वाली बाई के साथ घर का काम निबटाने लगी। जरूरत पड़ने पर वे स्वयं भी पत्नी का हाथ बंटाने लगते। जब मम्मी-पापा थे तो

बच्चे कई दफा मनपंसद खाने के लिए जिद्द किया करते, किन्तु अब सयानों की तरह व्यवहार करने लगे। जानते थे, ज्यादा काम का बोझ दादा-दादी के लिए तकलीफदेह है, अतः उन्होंने जिद्द करना छोड़ दिया। अवकाश मिलते ही बेटा-बहू घर आ जाते या बीच में वे स्वयं बच्चों को लेकर उनसे मिल आते।

इसी समय एक दिन उनके पोते ने कहा, “दादा, मैं ट्यूशन पढ़ना चाहता हूं।” उन्होंने हामी भर दी, पर जब शिक्षकों से संपर्क किया गया तो मालूम पड़ा कि एक स्कूल शुरू होने से पहले पढ़ायेंगे और दूसरे छुट्टी के बाद। अब समस्या आने-जाने की थी क्योंकि स्कूल बस तो स्कूल समय से चलती थी। अतः पोता के लिए उन्होंने स्कूटर खरीद दिया और चलाना भी सिखाया। ड्राइविंग लाइसेंस बनवाने के लिए भी भाग-दौड़ करना पड़ा। इसके कुछ दिनों बाद उनकी पोती भी ट्यूशन पढ़ने के लिए बोली। ना कहने की तो बात ही नहीं थी। तत्काल उसके लिए भी एक स्कूटर खरीद कर चलाना सिखाया और लाइसेंस भी बनवाया। अब दोनों बच्चे अपने समय से स्कूल जाते और लौट आते। जरूरत पड़ने पर ही वे उनको सहयोग करते। बच्चों को दौड़ते भागते और अपनी पढ़ाई में व्यस्त देख उनको बहुत सुकून मिलता था। बुढ़ापा में भी उनकी इस कदर व्यस्तता एवं जिंदादिली देख लोग आश्चर्यमिश्रित खुशी प्रकट करते, “इस अवस्था में भी आपकी यह सक्रियता सचमुच आश्चर्यजनक है।” जवाब में वे केवल मुस्करा कर रह जाते। इस तरह उनके जीवन की आखिरी पारी बड़े मजे से बीत रही थी।

एक दिन दोपहर में जब दोनों पति-पत्नी आराम से बैठे चाय की चुस्की ले रहे थे, तभी उनके दरवाजे की घंटी बजने लगी। जब उन्होंने दरवाजा खोला तो हैरत से उनकी आंखें फटी की फटी रह गयीं। उन्हें महसूस हुआ था जैसे पच्चीस साल पहले गायब हुई उनकी सुधा लौट आयी है। सामने खड़ी लड़की का चेहरा-मोहरा, कद-काठी सब कुछ सुधा की तरह ही थी। लेकिन वे जानते थे, यह सुधा नहीं है, वह तो आज पैंतालीस साल की हो चुकी होगी। कुछ क्षण पश्चात

उन्होंने अपने को संभालते हुए पूछा था, “क्या बात है?”

सामने खड़ी लड़की के चेहरे पर न जाने कितने ही तरह के भाव गडमड हो रहे थे। वह कुछ असहज और सशंकित भी थी, फिर भी हिम्मत बटोर कर बोली थी, “मैं आप लोगों से मिलने आयी हूँ।” और इसी के साथ माखन लाल के पैरों पर झुक गयी थी।

माखन लाल ने उसे खुश रहने का आशीर्वाद दिया और दरवाजा से हटते हुए बोले “अच्छा, आ जाओ।” मगर उनके भीतर अब भी उथल-पुथल मची हुई थी।

भीतर जाकर उस लड़की ने उनकी पत्नी के प्रति भी वैसा ही सम्मान प्रकट किया था। किन्तु वह भी उस लड़की को देखकर हक्की-बक्की रह गयी। उसके मन में एक हूक-सी उठी थी, कहीं यह सुधा की लड़की तो नहीं है। उन्होंने उसे अपने पास बिठा कर पूछा था, “बेटी, तुम कौन हो और यहां क्यों आयी हो?”

लड़की सहमी-सी कांपती आवाज में बोली थी, “नानी, मैं आपकी बेटी की बेटी, सुजाता हूँ।”

इतना सुनते ही माखन लाल और उनकी पत्नी भौचक्के रह गये। उनकी पत्नी भावुक हो गयी और सुजाता को अपनी बाहों में भरकर रोने लगी मानो वर्षों से बिछुड़ी उसकी सुधा उसे अचानक मिल गयी हो। माखन लाल अवाक् सुजाता को निहारने लगे। मन में विस्मय भी था और खुशी भी थी। पच्चीस साल पहले का हादसा एक बार फिर उनकी आंखों में उभर आया। कुछ ही पलों में वे जैसे सुधा से जुड़ी सारी जिन्दगी जी गये। एक बार फिर अपनी लाड़ली बेटी के लिए उनका मन रोया था। वे भी सुजाता के करीब सरक आये और उसके सिर पर हाथ फेरने लगे। पहली बार नाना-नानी का प्यार पाकर सुजाता निहाल हो गयी थी। वह बहुत देर तक खामोश अपनी नानी से लिपटी रही।

कुछ क्षण पश्चात जब वे सहज हो गये तो सुजाता से कुशल क्षेम पूछने लगे। जवाब में सुजाता ने जो कुछ कहा उसे सुनकर उनका हृदय एक बार और व्यथित हो गया। सुजाता बोली थी, “नाना, कुछ भी अच्छा नहीं

है। मम्मी बताती है, जब मैं पांच वर्ष की थी तभी मेरे पापा हमें छोड़कर चुपचाप कहीं चले गये। मम्मी उनकी प्रतीक्षा करती अकेली जिन्दगी से जूझती रही। मेरे दादा-दादी तो शुरू से ही मम्मी के खिलाफ थे, सो उन्होंने हमारी कभी पूछ-परख नहीं की। चूंकि मम्मी यहां से चुपचाप भाग कर गयी थी, आप लोगों को फिर मुंह दिखाने की हिम्मत नहीं जुटा पायी। जब वह बिल्कुल अकेली हो गयी तब उसे अपनी भूल का एहसास हुआ था। मैंने जब भी आप लोगों के विषय में पूछा, मम्मी को एक अपराध-बोध की पीड़ा से तड़फते देखा। वह बस यही कहती थी ‘मैं अभागन थी बेटी, जो अपने मां-बाप का तिरस्कार करके भाग आयी। शायद हमारे भाग्य में सुख लिखा ही नहीं था।’

“मम्मी बिल्कुल नहीं चाहती थी कि मैं आप लोगों से मिलूं। बहुत जिद्द के बाद मैं यहां आ पायी। मम्मी बारहवीं के बाद मुझे पढ़ाना नहीं चाहती। कहती है, ‘इससे अधिक पढ़ाने की हैसियत मेरी नहीं है।’ नाना, मैं पढ़ना चाहती हूँ। क्या करूं?” कहते-कहते उसका गला रूंध गया और वह सुबकने लगी। “ऐसा क्यों होता है नाना, कि मां-बाप की करनी का फल उसकी संतान को भोगना पड़ता है?”

जवाब में माखन लाल कुछ नहीं बोले थे। सुजाता के इस सवाल में उसके विगत और आगत दोनों वक्तों का समूचा दर्द समाया था। सुजाता और सुधा की हालत जान लेने के बाद उन्होंने एक बार फिर सुजाता के सिर पर हाथ रख दिया, “बेटी, मैं तुम्हारा भाग्य नहीं बदल सकता। तुम्हारी मम्मी का भाग्य भी कहां बदल पाया। हां, जब तक जिन्दा हूं तुम दोनों की हर जरूरत पूरी करने की कोशिश करूंगा। तुम्हारी पढ़ाई की सारी जिम्मेदारी मैं अपने ऊपर लेता हूँ। अपनी मम्मी को फोन कर दो कि तुम कल लौटोगी।”

सुजाता ने यंत्रचालित-सा अपनी मम्मी को सूचना देकर मोबाइल बंद कर दिया। अब माखन लाल अपनी पत्नी की ओर लक्ष्य करके बोले थे, “अभी तक हम बातों में ही उलझे रहे। सुजाता को कुछ खाने-पीने को

दो, फिर हम दोनों बाजार जाकर इसके लिए कुछ कपड़े वगैरह खरीद लाते हैं। कल इसके घर जायेंगे और दोनों मां-बेटी की जरूरत के सामान खरीदेंगे।”

कुछ क्षण पश्चात उन्होंने सुजाता से पूछा था, “तुम पढ़ने किससे जाती हो?”

“साइकिल से।” सुजाता बोली थी।

“अच्छा, कल तुम्हारे लिए भी स्कूटर खरीदेंगे। चलाना तो सीख लोगी न?” माखन लाल अब पूरी तरह सहज हो गये थे।

“हां।” सुजाता का चेहरा प्रसन्नता से खिल उठा था।

थोड़ी देर बाद वे सुजाता को लेकर बाजार जाने के लिए निकल पड़े, एक और जिम्मेदारी का निर्वहन करने। वे यह सोच कर मुस्करा रहे थे कि लगता है, जब तक शरीर में शक्ति है, उनकी आखिरी पारी खत्म नहीं होगी। मुझे भी लगता है, वे एकदम ठीक सोच रहे थे। आपका क्या ख्याल है? □

## रहें सद्गुरु के द्वारे में

रचयिता—धीरज कुमार

दुनिया में है बहुत गम,  
कभी ज्यादा कभी कम।

कभी खुशी कभी गम,  
ये हैं दुनिया के नियम।।

इनसे कभी न कतराएं।  
सदा नेक कर्म ही अपनाएं।।

ये तो हैं क्षणभंगुर,  
कभी विष तो कभी अंगूर।

सदा सोचें सबका कल्याण,  
रहें हर वक्त सद्गुरु के द्वारे में।।

## वृद्धाश्रम!

रचयिता—श्री मधुप पांडेय

वृद्धाश्रम में पिता को  
भरती करवाकर लौटते हुए  
बेटे के मन में पश्चाताप था।  
उसे महसूस हो रहा था  
उसने किया बहुत बड़ा पाप था।  
अचानक उसके पीछे से  
वृद्ध पिता की आवाज आयी—  
“बेटे, तू दुःखी मत हो  
मेरे मन में कोई रोष नहीं है।  
क्योंकि इसमें तेरा दोष नहीं है।  
बल्कि मेरे मन में पश्चाताप है।  
क्योंकि मैंने किया भीषण पाप है।  
ईश्वर ने मुझे मेरी करनी का  
सही सटीक दण्ड दिया है।  
बेटे, तुझे पाने के मोह में  
मैंने तीन-तीन बेटियों को  
तेरी मां के गर्भ में ही  
मार देने का महापाप किया है।  
सोचा था, कुलदीपक बनकर  
तू आएगा। घर जगमगायेगा।  
उंगली पकड़कर चलना सिखाया,  
तू बुढ़ापे में हाथ पकड़कर  
मुझे मन्दिर तक ले जायेगा।  
वैसे तूने अच्छा किया।  
मन्दिर की जगह मुझे  
वृद्धाश्रम लाकर छोड़ दिया।  
यदि तू मंदिर ले जाता,  
तो मुझ महापापी के कारण  
मन्दिर का पावन मनभावन  
वातावरण दूषित हो जाता!  
बेटे तूने बहुत अच्छा किया!  
वृद्धाश्रम में लाकर छोड़ दिया!!



## कबीर की सहज साधना

लेखक—विवेकदास

सद्गुरु कबीर एक बहुमुखी व्यक्तित्व वाले महापुरुष हैं। वे कवियों की दृष्टि में महाकवि, योगियों दृष्टि में महायोगी, ज्ञानियों की दृष्टि में महाज्ञानी, रहस्यवादियों की दृष्टि में महा रहस्यवादी, व्यंग्यकारों की दृष्टि में महा व्यंग्यकार, क्रान्तिकारियों की दृष्टि में महाक्रान्तिकारी, समाज सुधारकों की दृष्टि में समाज सुधारक और साधक-संतों की दृष्टि में एक उच्चकोटि के साधक-संत हैं। इसीलिए संतों की दृष्टि में वे संत शिरोमणि हैं।

कबीर साहेब ने सहज और सामान्य जीवन जीते हुए अध्यात्म की उच्चतम स्थिति की जो बातें कहीं वह सचमुच में अद्भुत हैं। वे साधना के जिस मार्ग का शोधन किये उसके लिए घर-बार छोड़कर वन में जाकर धुनी रमाने की आवश्यकता नहीं है, अपितु सहज जीवन जीते हुए कमाते-खाते उस पथ पर चला जा सकता है और जीवन की उच्चतम स्थिति को प्राप्त किया जा सकता है। हां, जो त्याग-वैराग्य पूर्वक घर-बार छोड़कर साधनात्मक जीवन जीते हैं, वे अपना काम करते हुए समाज हित का भी काम कर सकते हैं। कबीर का ज्ञान, कबीर की साधना सहज है जिसे समझकर बड़ी सहजता से जीवन जीया जा सकता है।

उनका सुन्दर-सा सूत्र है—“कर से काम, मन से राम। कहैं कबीर सरै दोऊ काम।” कर (शरीर) से काम करो और मन से राम का चिंतन करो, इससे दोनों काम होगा। जो काम कर रहे हैं वह भी होगा और भजन भी होगा। इसका प्रयोग कोई भी करके देख सकता है। लिखा-पढ़ी के अलावा अन्य कोई भी काम हो आप मन से कुछ भजन, कुछ संगीत गुनगुनाते रहिये और अपना काम करते रहिये। काम भी हो जायेगा और किसी प्रकार का भार भी नहीं लगेगा, मन थकेगा भी नहीं। यह स्थिति बराबर बनी रही तो मन की पवित्रता भी बढ़ती जायेगी और काम भी सुचारू रूप से होने

लगेगा। फिर तो प्रत्येक कर्म पूजा बन जायेगा और कबीर साहेब की वह पंक्ति चरितार्थ हो जायेगी—“जहँ जहँ डोलौं सो परिकरमा, जो कुछ करौं सो पूजा।”

कबीर साहेब के कई ऐसे पद हैं जिन्हें देखकर लगता है कि वे कितनी मस्तानगी में रहकर कर्म करते रहे होंगे। भले ही वे चरखा-करघा का काम करते रहे होंगे। लेकिन उनकी मस्तानगी इन पदों से पता चलता है जैसे—झीनी झीनी बीनी चदरिया। चदरिया झीनी रे झीनी। जोलहा बीनहु हो हरि नामा आदि।

यह बात यदि हमारे जीवन में आ जाये तो हमें भी कोई भी काम बोज़ रूप नहीं लगेगा और जो भी होगा हमारी साधना में सहायक होगा और दिनोदिन हमारी प्रसन्नता और सजगता की वृद्धि होगी।

कबीर साहेब ने कभी आकाशीय बात नहीं कही, किन्तु धरती की बात कही, जीवन की बात, अपने अनुभव की बात कही। न वे कहा-सुनी की बात करते थे और न ही लिखा-लिखी वाली बात कहते थे। इसीलिए तो वे कह उठते हैं—

तेरा मेरा मनुवा कैसे एक होई रे।

तू कहता कागद की लेखी मैं कहता आंखन की देखी।

और

कहा सुनी की है नहीं देखा देखी बात।

दुल्हा दुल्हन मिल गयी फीकी परी बरात।।

कबीर साहेब प्रत्यक्षदर्शी हैं, इसलिए वे साक्षी की बात करते हैं। सहज ध्यान और सहज साधना की बात करते हैं। किसी ने कहा है या कहीं लिखा है कबीर का इस पर कोई विश्वास नहीं है। वे स्वयं अनुभव से गुजरते हैं। तब विश्वासपूर्वक कहते हैं—

मन मगन भया तब क्या बोले।

हीरा पायो गांठ गठियायो बार बार वाको क्यों खोले।।

वास्तव में यही हकीकत भी है। हमारे ऋषि-मुनियों ने जो जाना, समझा और जिया, अनुभव किया

उसे हम रटे जा रहे हैं, वह हमारा अनुभव तो नहीं है। बुद्ध ने जो बुद्धत्व प्राप्त किया, महावीर ने जो अर्हत्व प्राप्त किया, कबीर ने जो सहज स्थिति प्राप्त की, वह तो उनकी हुई, हमारी कहां हुई। यदि उस स्थिति को हमने अपने अनुभव से नहीं जाना तो फिर बुद्ध के बुद्धत्व, महावीर के अर्हत्व और कबीर की सहजता से क्या मतलब, वह हमारे किस काम का। यदि बुद्ध हमारे बीच आकर बुद्धत्व की चर्चा करें, महावीर और कबीर आकर अपने अनुभव की चर्चा करें तो क्या सही अर्थ में हम उनके मर्म को समझ सकेंगे। हम उनको अपनी बुद्धि से तौलेंगे, समझेंगे और मानेंगे। उनकी बातों को समझने की न हममें अभी क्षमता है और न ही हमारी योग्यता है। दूसरी बात, उन्होंने जो कुछ अनुभव किया, जाना-समझा उसे न तो वे पूरी तरह बता पायेंगे और न ही हम समझ पायेंगे। हमारी स्थिति ठीक वैसे ही हो जायेगी जैसे अंधे मित्र की हुई।

दो मित्र थे उनमें से एक अंधा था और एक आंखवाला। दोनों की अच्छी मित्रता थी। दोनों साथ-साथ रहते थे। एक दिन आंख वाला एक जगह भोज में गया। जब आया तो अंधे मित्र ने पूछा—तुम कहां गये थे? उसने बताया भोज में गया था। अंधे मित्र ने पूछा—भोज में क्या खाये? आंख वाले मित्र ने कहा—खीर! बड़ी स्वादिष्ट बनी थी। अंधे ने पूछा—खीर कैसी होती है? हमने तो आज तक कभी नहीं खायी। आंख वाले ने कहा—खीर सफेद होती है। अब अंधे को रंग बताने से क्या समझे। उसने कहा “सफेद कैसे?” आंख वाले मित्र ने सोचकर कहा— बस, बगुले की तरह सफेद। अंधे ने कहा—बगुले की तरह मतलब कैसा? अब क्या बताये, उसने उसी के हाथ को टेढ़ा करके बता दिया कि बगुला ऐसा होता है। अंधे मित्र को रूप का ज्ञान तो था नहीं। वह आकार को समझा। अपने टेढ़े हाथ पर दूसरा हाथ फेरते हुए कहा—ना बाबा, ना, हम तो कभी खीर नहीं खायेंगे। यह तो गले में फंस जायेगा। यह तो बिलकुल हंसिये की तरह है।

आंख वाले मित्र ने अपने अनुभव की बात अपने स्तर से बताने की चेष्टा तो की किन्तु वह अंधा मित्र

उसको समझ न सका, बल्कि अलग ढंग से समझ लिया। अनुभव की बात न तो पूरी तरह से बतायी जा सकती है और न ही उस स्थिति से गुजरे बिना उसका अनुभव किया जा सकता है। इसीलिए कबीर साहेब ने कहा है—

*कहहिं कबीर गुंगे गुड़ खाया पूछै सो क्या कहिया  
गुंगे केरी सर्करा खाये और मुस्काय।*

महापुरुषों के पीछे भी ऐसा ही होता रहा है। वे जो अनुभव किये, उसे वे बताने की चेष्टा तो किये किन्तु उसे हम उस रूप में नहीं समझ सके। अपितु अपनी मान्यता के द्वारा समझे और लगा कि हम सब कुछ समझ लिये और जान लिये। आज लगभग सभी महापुरुषों के बाद उनके पंथ में अनेक शाखाएं हो गयी हैं। और सबका दावा है कि हम ही अपने गुरु या पीर के बताये सत्य मार्ग पर चल रहे हैं। हम ही सही हैं और सब गलत हैं, कुपथ पर हैं। यह किसी भी मत-पंथ-सम्प्रदाय की तहकीकात करके जाना जा सकता है। ऐसे ही कबीर मत में भी अनेक शाखाएं हैं और सबका अपना-अपना दावा है कि हम ही कबीर साहेब के पक्के अनुयायी हैं और हम ही कबीर साहेब के विचार को समझे हैं। यही लोग एक दूसरे से वैर-विरोध भी रखते हैं। अपने को श्रेष्ठ बताते हैं और दूसरों को तुच्छ।

कुछ लोग कबीर के नाम पर उन्हीं पोंगापंथी बातों को लेकर चल रहे हैं और जनता में प्रचार-प्रसार कर रहे हैं, जिनका कबीर साहेब ने निरसन किया है। मजाक उड़ाया है। तो कुछ लोग कबीर के नाम पर खूब खंडन करके सब कुछ को उखाड़ फेंकने को ही अपनी वीरता समझ रहे हैं। दोनों को ही कबीर की मूल बातों से कोई मतलब नहीं है बल्कि ये लोग स्वार्थपरता और राग-द्वेष पूर्ण मानसिकता में जी रहे हैं। जो लोग पोंगापंथी बातों में जी रहे हैं, उनको और अपने को आधुनिक और क्रांतिकारी मानने वाले हैं उनको कबीर की साधना से कोई मतलब नहीं है क्योंकि न तो वे उनको समझना चाहते हैं और न ही जीना चाहते हैं।

कबीर की साधना और जीवन की हकीकत को हम तभी समझ सकते हैं, जब हम पूर्वाग्रह को छोड़कर निष्पक्ष होकर उन्हें समझने की चेष्टा करेंगे। और कबीर की सहज साधना को अपने सहज जीवन में स्थान देंगे। कबीर साहेब ने जो भी साधना सम्बन्धी बातें कही हैं, वह तो सिर्फ एक संकेत है, एक इशारा है। उनकी स्थिति तो वे ही जानें, किन्तु हम स्वयं जीने लगे तो हम उस स्थिति से गुजर सकते हैं, उसे अपना अनुभव बना सकते हैं।

जैसी कहै करै पुनि तैसी, राग द्वेष निरुवारे।  
तामें घटे बढै रतियो नहिं, यहि विधि आपु संवारे।

अब यह बहुत ही गहराई की बात है। यदि हम इस कसौटी में अपने आपको कसेंगे और जीवन में जीने लग जायेंगे तो वह गहराई, वह सहज स्थिति हमारे जीवन में सहज ही आ जायेगी और सचमुच तभी हम सही अर्थ में कबीर अनुयायी हो पायेंगे।

संतो सहज समाधि भली।

गुरु परताप भयो जा दिन ते सुरत न अंत चली॥  
जहँ जहँ डोलौं सो परिकरमा जो कुछ करौं सो पूजा।  
जब सोवों तब करौं दण्डवत भाव मिटावों दूजा॥  
आंख न मूंदौं कान न रूधौं काया कष्ट न धारौं।  
खुले नैन हंसि हंसि पहिचानों सुन्दर रूप निहारौं॥  
शब्द निरंतर मनुवा लागा मलिन वासना त्यागी।  
उठत बैठत कबहुँ न छूटै ऐसी तारी लागी॥  
कहत कबीर सहज यह रहनी सो परगट करि गायी।  
सुख दुख से कोई परै परम पद सो पद है सुखदायी॥

यह सहज समाधि का सहज वर्णन कितना अद्भुत लगता है। क्या यह कवि की सिर्फ भावना मात्र है। नहीं, यह कबीर साहेब की उच्चकोटि की रहनी को दर्शाता है। यह सिर्फ भावना मात्र नहीं है और न ही इसे सिर्फ गाकर या सुनकर इसकी मार्मिकता को समझा जा सकता है। इसके लिए राग-द्वेष विहीन चित्त की अवस्था चाहिए।

हम भले ही कबीर वाणी के कुछ पदों की मार्मिक टीका-व्याख्या कर कबीर वाणी के मर्मज्ञ बन जाने का दावा करने लग जायें, किन्तु इतने मात्र से कबीर की

साधना को नहीं समझा जा सकता। मन की इतनी पवित्र अवस्था आ जाये कि उसमें अन्यथा वाली बात ही न आने पाये। प्रत्येक क्षण होशपूर्वक बीते तो चलना परिक्रमा और करना पूजा बन जायेगा। सोना-जागना, खाना-पीना, देखना-सुनना, हंसना-बोलना जीवन के सारे व्यवहार होशपूर्वक हो जाये और वह भी सहजता के साथ। वास्तव में यही सहज समाधि और सहज साधना है जिधर गुरुवर कबीर का संकेत है।

इसी बात को पूज्यवर गुरुदेव श्री अभिलाष साहेब जी ने कहा—अभ्यासकाल में संकल्प-हीनता और व्यवहारकाल में विकार-हीनता (विकार शून्य अवस्था) आ जाये यही जीवन की उच्चतम दशा है और यही सहज साधना है। यह वास्तव में कठिन जान पड़ता है क्योंकि अभ्यास काल में बैठते ही कितने प्रयास के बावजूद भी विचारों की शृंखला आ ही जाती है और व्यवहार काल में बहुत प्रयास के बावजूद भी विकार आ ही जाते हैं और हम राग-द्वेष, क्रोध, ईर्ष्या, वैमनस्य के शिकार हो जाते हैं। क्या कभी ऐसा हो सकता है कि हम ऐसी सहज निर्विकार स्थिति में आ सकेंगे। किन्तु जहां तक इस विषय पर मैं समझता हूं और आप सबको भी कुछ अनुभव होता होगा जिस क्षण सजगता की स्थिति होती है अभ्यासकाल में मन विकार-शून्य अवस्था में आ जाता है। यदि कभी विचार आते भी हैं तो वे सहज और सकारात्मक होते हैं और व्यवहारकाल में विकारहीन अवस्था भी आती है। कभी विकार काम-क्रोधादि आ भी जाये तो मन तत्क्षण सावधान हो जाता है और विकार उड़ जाते हैं। सुख-दुख की स्थिति आने पर भी यदि सजग चित्त रहता है तो मन को आन्दोलित नहीं होने देता है। और यह साधकों का मत भी है कि यह अवस्था प्रारम्भ में भले ही कम समय के लिए ही आती हो किन्तु ईमानदारीपूर्वक प्रयास करने पर, यह बढ़ता जाता है। और एक समय ऐसा आता है कि व्यवहारकाल विकारहीन अवस्था वाला हो जाता है।

कबीर की साधना वर्तमान में जीने की कला है। हम यदि सजगता और सावधानी से प्रत्येक क्षण को

जीते हैं तो हम अपने में मौज से रह सकते हैं। हम मौज बाहरी प्राणी और पदार्थों में दूढ़ते हैं जो मिलना संभव नहीं है। प्राणी और पदार्थों में जो हम मौज चाहते हैं वह तो मन अनुसार मिलता नहीं और मिलता भी है तो सब समय रहता नहीं है। इसलिए बाहरी सुख मिलकर भी अनमिल बने रहता है। वास्तव में चित्त की राग-द्वेष विहीन अवस्था में होकर आत्मकेन्द्रित होना ही सहज सुख की स्थिति है। यदि यह स्थिति आ गयी तो अपने और सबके लिए मंगलमय स्थिति होगी।

यह काम सबसे उदास होकर किसी गुफा या जंगल में बैठकर ही होगा ऐसा नहीं है बल्कि जिस परिवार-समाज में हम रहते हैं उनके बीच सजगता पूर्वक व्यवहार करते हुए अपने को समझना और जीना है। इसके लिए दो बातों को समझना जरूरी है, जिन पर कबीर साहेब ने बारम्बार जोर दिया है—संसार और शरीर की क्षणिकता तथा आत्मा की अमरता। हमें यह समझना है और अपने मन में बिठाना है कि शरीर और संसार के समस्त प्राणी-पदार्थ अनित्य और अनात्म हैं इसलिए दुखपूर्ण हैं और आत्मा में स्वयं सत्ता हूं, नित्य सनातन सुख स्वरूप हूं। मैं सुख स्वरूप हूं इसीलिए सुख पाने की इच्छा मुझमें होती है किन्तु अज्ञान की वजह से मैं इसके लिए बाहर भटकता हूं और जितनी-जितनी मेरी बहिरंग वृत्ति बढ़ती जाती है मैं शाश्वत सुख से, असली सुख से दूर होता जाता हूं। सद्गुरु कबीर ने बड़ा ही सुन्दर कहा है—

जो तू चाहे मूझको छाँड़ सकल की आस।

मुझही ऐसा होय रहो सब सुख तेरे पास॥

(बीजक, साखी 298)

यदि तू मुझे चाहता है तो बाहर संसार की आशा छोड़ दे और जैसे मैं निष्काम हूं वैसा ही तू भी निष्काम हो जा, बस सुखी हो जायेगा। कबीर साहेब बाहर ईश्वर-परमात्मा मानकर रोने-गिड़गिड़ाने और उससे मिलकर मुक्ति की आशा करने वालों को जमकर फटकारते हैं। वे कह उठते हैं—आपन आश कीजै बहुतेरा, काहु न मर्म पावल हरि केरा।

अपने आपका आशा और भरोसा करो। किसी ने भी ईश्वर का मर्म नहीं पाया।

कबीर की सहज साधना बाह्य आडम्बरों को छोड़कर सबसे निष्काम होकर अपने में स्थित होना है। जब तक जीवन है तब तक व्यवहार है और जब तक जीवन है हम व्यवहार से अपने को काटकर नहीं रख सकते। कोई घर-द्वार छोड़कर साधु-फकीर हो जाये तो भी व्यवहार से नहीं बच सकता। व्यवहार तो निभाना ही पड़ता है। किन्तु यदि सच्चाई को समझकर, राम की अमरता और शरीर-संसार की नश्वरता को समझकर जीने लगे तो व्यवहार में सहजता होगी ही। हम कहीं उलझेंगे नहीं और हमारी मस्तानगी बढ़ती जायेगी।

वास्तव में कबीर की सहज साधना बड़ी सरल है। यदि इस ज्ञान को समझने लगे तो हम सहज होकर सहज साधना द्वारा सहज स्थिति को, निर्मल दशा को प्राप्त कर सकेंगे।

## मानव ही सर्वशक्तिमान

रचयिता—धीरज कुमार

मानव ही है सबसे महान  
ये हैं मानो मोमबती समान  
खुद जलकर देते दूसरों को आराम  
समझते इसमें अपना मान  
नहीं करते किसी को परेशान  
ना ही बनते हैं हैवान  
करते सदा ही नेक काम  
हो जाता है जग में नाम  
कर्ण हरिश्चन्द्र का करते सम्मान  
धर्म परोपकार को देते प्रथम स्थान  
इन्हें समझते धर्म के प्राण  
नहीं करते इनका अपमान  
माता-पिता सद्गुरु का रखते ध्यान  
मानव छोड़ ना ही दूजा कोई महान  
मानव ही है धरती के भगवान  
और वे ही हैं सर्वशक्तिमान

# बीजक चिंतन

## मन के पारखी बनो

### शब्द-

ता मन को चीन्हो मोरे भाई, तन छूटे मन कहाँ समाई॥  
सनक सनन्दन जैदेव नामा, भक्ति सही मन उनहुँ न जाना॥  
अम्बरीष प्रह्लाद सुदामा, भक्ति हेतु मन उनहुँ न जाना॥  
भरथरि गोरख गोपी चन्दा, ता मन मिलि मिलि कियो अनन्दा॥  
जा मन को कोइ जान न भेवा, ता मन मगन भये शुकदेवा॥  
शिव सनकादिक नारद शेषा, तनके भीतर मन उनहुँ न पेखा॥  
एकल निरंजन सकल शरीरा, तामहँ भ्रमि भ्रमि रहल कबीरा॥

**शब्दार्थ**—नामा= नामदेव। भेवा= भेद, रहस्य।  
एकल निरंजन= एक मन। कबीरा= जीव।

**भावार्थ**—हे मेरे बंधु! उस मन की पहचान करो जो तुम्हारा संसार से सम्बन्ध कराने में कारण है। इस बात पर विचार करो कि शरीर छूट जाने पर मन कहाँ लीन होगा?॥ ॥ सनक, सनन्दनादि तथा जयदेव, नामदेव आदि महापुरुषों ने भक्ति अवश्य की, परन्तु मन की परख उन्होंने नहीं की। ॥ अम्बरीष, प्रह्लाद, सुदामा आदि महानुभाव भी अधिक भक्ति-भावना के कारण मन की परख नहीं कर सके। ॥ भर्तृहरि, गोरखनाथ और गोपीचन्द जैसे योगीजनों ने भी उस मन में मिल-मिलकर आनन्द माना। ॥ जिस मन का कोई रहस्य न जान सका, उसी मन में मिलकर शुकदेव मुनि भी निमग्न हो गये। ॥ यहाँ तक कि शिव, सनकादि, नारद, शेष जी आदि ने भी शरीर के भीतर में रहने वाले मन की परख नहीं की। ॥ एक मन का जंगल सभी देहधारियों के अन्दर फैला हुआ है और उसी में सब जीव भटक-भटककर उलझ रहे हैं। ॥

**व्याख्या**—मन न हो तो जीव का सम्बन्ध जगत से न हो। प्रत्यक्ष अनुभव की बात है कि सुषुप्ति अवस्था में मन लीन हो जाता है तो उस समय जीव को शरीर का भी भान नहीं रहता। इस प्रकार हर आदमी प्रतिदिन चार, छह या आठ घंटे तक नींद में जाकर

अपने माने हुए शरीर को भूल जाता है। अतएव चेतन का जड़ से सम्बन्ध कराने में यह मन ही कारण है। मन ही जड़-चेतन में पुल है। जो दोनों को जोड़ता है। बाहर से कुछ भी प्राप्त करने का नक्शा मन बनाता है और मन के खोने के साथ बाहर का नक्शा भी खो जाता है। जीव को बाहर से शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध—इन पांच विषयों के अलावा कुछ भी नहीं मिलता। यदि हम बाहर से मोक्ष एवं ईश्वर का नक्शा बनाते हैं और उन्हें पाना चाहते हैं तो वे भी मन के आयाम से बाहर नहीं होते।

इस शब्द में सद्गुरु कबीर ने बड़े-बड़े नाम लिये हैं और यह बताया है कि वे सब मन के आयाम से बाहर न जा सके। भक्तिभावना में विह्वल लोग किसी देहधारी को जो वर्तमान में है या शरीर छोड़ चुका है भगवान एवं जगत-नियंता मानकर उसके पीछे अपनी सुध-बुध खोये रहते हैं। जो भक्त देहधारी को न मानकर ऐसे ही कल्पना करते हैं कि एक ऐसा ईश्वर है जो सब जगह व्याप्त है, उसका भी ईश्वर उसकी मान्यता होता है। जब मन शांत हो जाता है उस समय किसी ईश्वर का नक्शा नहीं रह जाता। जयदेव, नामदेव, अम्बरीष, प्रह्लाद, सुदामा, नारद, शेष आदि जितने भी भक्तों के नाम लिये जायें, ये अपने मन में किसी प्रकार के ईश्वर का नक्शा बनाकर उसकी भक्तिभावना में डूबे रहे। यह सच है कि उन्होंने इस प्रकार की भक्ति की, परन्तु वे यह नहीं समझ सके कि हम मन के आयाम, मन के फैलाव के भीतर ही रम रहे हैं। वे मन को परख नहीं सके। वे यह नहीं समझ सके कि हम मन को ही ईश्वर मानकर उसी में रम रहे हैं।

योगी लोग मन से नाद, बिन्दु, ज्योति आदि का नक्शा बनाकर उन्हीं में मग्न होते हैं। ज्ञानी कहलाने वाले लोगों की कल्पना हुई कि मैं सर्वत्र व्याप्त हूँ। यह भी एक मन का ही विस्तार है। ईमानदारी से सोचें तो सहज ज्ञात होगा कि 'मैं सर्वत्र व्याप्त हूँ'—यह किसी का अपना अनुभव नहीं है, परन्तु अधिसंख्यक ज्ञानी कहलाने वाले ऐसी ही कल्पना करते हैं। अतएव सब मन के नक्शे में ही उलझे रहते हैं। इस प्रकार भक्त, योगी, ज्ञानी आदि सब मन के विस्तार को ही मन का

परम आश्रय मान लेते हैं। संसार के कर्म-प्रपंच, विषय-भोग तथा राग-रंग तो मन के विस्तार हैं ही, परन्तु यदि मन का परम विश्रामस्थल भी मन के विस्तार को मान लिया गया, तो मन को परखकर उससे ऊपर उठने की बात ही कहां हुई !

कबीर देव इस शब्द के शुरू ही में कहते हैं—“ता मन को चीन्हो मोरे भाई, तन छूटे मन कहाँ समाई।” यहां साहेब सामान्य मनुष्यों के मन को नहीं कह रहे हैं। यहां भक्त, योगी, ज्ञानी-जैसे परमार्थपरायण के मन की बात कर रहे हैं। शरीर रहते-रहते जहां मन लगा रहता है, शरीर छूटने पर मन वहीं समाता है। यदि व्यक्ति का मन बाहर किसी शुभ या अशुभ नक्शे में लगा है, तो वह आज भी बाहर भटक रहा है, और शरीरांत के बाद भी भटकने की ही स्थिति में रहेगा। परन्तु यदि मन बाहर के सारे नक्शे छोड़कर चेतना एवं आत्मा में लौट आया है, तो भटकने का कोई प्रश्न ही नहीं है। मन जब संकल्प-शून्य हो जाता है, तब कोई नक्शा नहीं रहता। तब केवल आत्मा विद्यमान रहती है एवं ज्ञानस्वरूप मात्र रहता है और गहरी शांति रहती है।

विवेकवान का काम है कि वह मन के सारे नक्शों को खो दे। वस्तुतः जो मन को ही परख-परखकर उसका अभाव करता रहता है, उसके सामने से सारे नक्शे, सारी अवधारणाएं एवं सारी कल्पनाएं खो जाती हैं। इसीलिए सद्गुरु कहते हैं “ता मन को चीन्हो मोरे भाई” मन को चीन्हो, मन को परखो, तो मन शून्य हो जायेगा। हम एक विशेष ध्यान की अवस्था में बैठकर मन को परख-परखकर उसे शून्य कर देते हैं यह तो ठीक ही है, परन्तु हमें चाहिए कि अन्य समय में भी, लेटते, उठते, बैठते, खाते-पीते तथा कोई काम करते हुए मन को परखते रहें। मन हमें वर्तमान से हटाकर नये-नये नक्शे में ले जाता है। यदि हम हर समय मन को परखते रहते हैं तो इससे बड़ी और कोई साधना नहीं होगी। साधक को किसी मुक्ति या भगवान का नक्शा नहीं बनाना है, किन्तु मन को परख-परखकर उसे छोड़ते रहना है। मन ही हमें भव में जोड़ता है, मन ही हमें संसार एवं प्रपंचों में मिलाता है। यदि हमने मन

को ही परखकर उसे छोड़ने का अभ्यास करना शुरू कर दिया तो मानो हमारे लिए भवसागर ही समाप्त हो गया। हमें बाहर से न मोक्ष पाना है और न कोई भगवान पाना है, हमें केवल अपने मन को देखते रहना है, उसे परख-परखकर अपनी सत्ता, अपनी चेतना को अपनी ओर लौटाते रहना है। इस प्रकार जब हम अपनी सत्ता मन को नहीं देते, तब मन शून्य हो जाता है। मन के शून्य हो जाने पर सारे नक्शे समाप्त हो जाते हैं। फिर तो जीव असंग होकर अपने आप में पूर्ण स्थित हो जाता है। इस स्थिति को पाने के बाद शरीर का अभी कुछ दिन रहना या आज ही उसका छूट जाना उसके लिए बराबर है। जो मन का साक्षी बन जाता है, उसके भवबन्धन का सारा खेल समाप्त हो जाता है। अतएव वह हर समय कृतार्थ है। इसीलिए सद्गुरु कहते हैं कि शरीर छूटने के पहले मन को परखकर उसे छोड़ दो। समझ लो मन तथा मन के सारे नक्शे झूठे हैं वे चाहे शुभ हों और चाहे अशुभ।

सद्गुरु कहते हैं कि इस तथ्य को न समझकर जीव मन को ही अपना स्वरूप मान लेता है। वह हर क्षण मन के विस्तार ही में डूबा रहता है। वह कहीं अशुभ नक्शे में तथा कहीं शुभ नक्शे में, हर हालत में हर समय मन के नक्शे में ही उलझा रहता है। “एकल निरंजन सकल शरीरा, तामहँ भ्रमि भ्रमि रहल कबीरा।” यहां निरंजन का अर्थ मन है। साहेब कहते हैं कि यह एक मन सब शरीरों में विद्यमान है। यहां एक का मतलब यह नहीं है कि सभी शरीरों में एक ही मन है। वस्तुतः सभी शरीरों में अलग-अलग मन है। तात्पर्य यह है कि हर जीव एक अपने मन के बनाये जंगल एवं भूलभुलैया में भटक-भटककर रह रहा है। हर आदमी अपने मन के जाल में उलझा है। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि तुम्हें मन के जाल को तोड़ना है। तुम्हें कुछ पाना नहीं है। कुछ पाने की भावना ही भ्रम है। तुम्हें केवल मन के जाल को तोड़कर मुक्त हो जाना है। मन के साक्षी बन गये, मन के पारखी बन गये, मन को अपने आप से अलग कर दिये, बस कृतार्थ ! □

## घर की साधना

लेखक—भूपेन्द्र दास

प्रायः लोग जब संतों से मिलते हैं तो यह पूछा करते हैं कि संतजी, क्या घर में रहकर भी साधना किया जा सकता है? क्या घर में रहकर साधना की उस ऊंचाई तक नहीं पहुंचा जा सकता जिस ऊंचाई तक विरक्त संत घर छोड़कर पहुंच जाते हैं? उन्हें उत्तर दिया जाता है कि गृहस्थ और विरक्त मनुष्यों की दो श्रेणियां मात्र हैं। जो घरबार छोड़कर एकनिष्ठ साधना में लगते हैं वे शीघ्र परमात्मत्व को उपलब्ध हो जाते हैं, किन्तु जो घर में रहकर ही साधना-संयम पूर्वक निरंतर साधना करता है वह भी अपने प्राप्तव्य को पा सकता है।

हम कहां रहकर साधना करते हैं इसका मूल्य नहीं है, मूल्य है कैसे और कितना करते हैं इसका। हम जहां भी रहें साधना करते रहें। अपने मन को मांजें। आज भी गृहस्थी में कितने भक्त ऐसे रहते हैं मानो उनका पूरा मकान ही आश्रम हो। लोग धन की कमाई करके शरीर के लिए नया मकान बना लेते हैं इसी प्रकार आत्मा के लिए पक्का मकान बनाएं जहां से अमरत्व की प्राप्ति हो सके। परन्तु किराये का मकान (शरीर) इतना प्रिय हो गया है कि आदमी अपने घर (स्व-चेतन सत्ता) में लौटना ही नहीं चाहता। जब तक आदमी परमुखापेक्षिता से लौटकर अपने पैरों के बल चलना नहीं सीख लेता तब तक वह अपने घर में प्रवेश नहीं पा सकता। कुछ सावधानी रखकर हम अपने व्यावहारिक जीवन का तो सुधार कर ही सकते हैं साथ-साथ अध्यात्म की ऊंचाई पर भी चढ़ सकते हैं।

घर की दीवार पर अगर पीपल का पेड़ उग आये तो उसे उखाड़ देना चाहिए—बरगद और पीपल के बीज अत्यंत छोटे होते हैं, किन्तु उनका पेड़ विशाल होता है। किसी दीवार पर पीपल उगता है तो लोग उसे इसलिए रहने नहीं देते कि यह तो छोटा-सा है बल्कि उखाड़कर फेंक देते हैं। क्योंकि उसके भावी विनाश को देख लेते हैं। हमारे जीवन रूपी भवन में अहंकार का पीपल कभी उगने न पाये। सद्गुरु श्री रामरहस साहेब जी ने कहा है—“अहंकार आने नहीं,

मैं उत्तम यह नीच। एकत्व सबहिं सम लखै, मानुष खानि के बीच।। अहंकारी आदमी का सदैव विनाश होता है। कल्याण का रास्ता है अहंकार छोड़कर विनम्र हो जाना। देहाती कहावत है—“नरम लोहा सदैव गरम लोहा को काटता है।” एक व्यक्ति आवेश में गरम है दूसरा शांत है तो शांत व्यक्ति जीत जाता है।

अहंकार सदैव धन, बल, विद्या, पद, जाति, रूप, सौन्दर्य आदि नाशवान और छूटने वाली चीजों का ही होता है। जो अखंड शाश्वत है, आनंद का सागर है उसका कभी किसी को अहंकार हो ही नहीं सकता। जब आदमी दुनिया में आता है बिल्कुल नंगा आता है। एक तिनका भी साथ नहीं लाता। यहां से जब जाता है तब भी कुछ साथ नहीं ले जाता। अपना माना हुआ शरीर भी यहीं रह जाता है। इसलिए बीच में मिले प्राणी, पदार्थ, बल, रूप आदि का अहंकार करना निरर्थक है। अतः साधक का काम है अपने अहंकार को पूरा मिटा देना। अपने को पूरा मिटाये बिना कोई शांति को उपलब्ध नहीं हो सकता। अपने को मारना है—अपने अहंकार को मार लेना, मन से अहंता-ममता का त्याग कर देना। जो जितना ही इसका पालन करता है उसका मन शीतल और जीवन सुगंधित होता जाता है।

कहा जाता है कि मिट्टी के घड़े पर रखी कटोरी ने घड़े पर पक्षपात का आरोप लगाते हुए कहा—तुम्हारा व्यवहार पक्षपातपूर्ण है और तुम्हारे यहां भी भाई-भतीजावाद चलता है। घड़े ने कहा—अरी बहन! क्या कह रही हो? इतना बड़ा आरोप तुम किस आधार पर लगा रही हो। क्या सबूत है तुम्हारे पास कि मैं पक्षपाती हूं। कटोरी ने तुनककर कहा—सबूत मांगते हो। मैं स्वयं इसका सबूत हूं। तुम सारे जहां के लोगों की तो प्यास बुझाया करते हो लेकिन मैं सदा तुम्हारे निकट रहने वाली प्यासी की प्यासी हूं। घड़े ने मुस्कराते हुए कहा—मेरी प्यारी बहन, किसी से कुछ पाना है तो उसके सिर पर नहीं, चरणों में नीचे आना पड़ता है, पर

तुम तो सदा से ही मेरे सिर पर अकड़कर बैठी हो। अब बताओ, गलती किसकी है। मैं पक्षपाती हूँ या तुम अयोग्य ठहरती हो। कटोरी को अपनी भूल का अहसास हुआ। वह ज्यों ही नीचे आई, घड़े ने उसे ठंडे जल से परिपूर्ण कर दिया। अतः सर झुकाना, अहंकार के सिगनल को डाउन करना पूर्णता का मार्ग है। सारा संसार अहंकार की आग में जल रहा है। केवल संतजन इससे बचते हैं क्योंकि वे शान्ति का सहारा लेते हैं।

**अपने घर की आग दूसरों को न दें**—वैसे तो आज लोग दूसरे घर से आग मांगते भी नहीं हैं। पहले का जमाना था लोग शाम-सुबह भोजन बनाने के लिए पास-पड़ोस के घर से आग मांगकर ले आते थे। यहां घर की आग है—बुराई, दोष, दुख। अपने घर की इज्जत बनाये रखें। जिन लोगों के साथ रहते हैं, सबके स्वभाव, आदत, गुण, कर्म, रुचियां, सोचने का ढंग अलग-अलग होते हैं। इनको लेकर किसी की निंदा-बुराई न करे। किसी व्यक्ति में कोई त्रुटि है तो उसे बाहरी किसी से नहीं कहना चाहिए। अगर आप उचित समझते हैं तो उसी को शांतभाव से समझा दें जिसने गलत किया है वह भी उचित अवसर आने पर। फिर उसको लगेगा तो वह अपना सुधार कर लेगा। कुआं अपनी छाया अपने भीतर रखता है। अपने ही घर, परिवार, समाज के व्यक्तियों पर कीचड़ क्यों उछाला जाये। हमारा खुद का मन ही अभी नरक बना हुआ है। हम उसे देखें और सुधार करें। जो व्यक्ति सदैव अपने को देखता है, अपने कपड़ों में लगे दाग को छुड़ाने में लगा रहता है उसे दूसरी तरफ देखने का समय ही नहीं मिलता। अगर किसी को गलती बताना ही है तो पहले उसकी प्रशंसा करें जिससे कि उसको बुरा न लगे। अगर आप ऐसा न कर सीधे किसी की गलती बताने लगे तो सामने वाला क्रोधित हो जायेगा और आपके सुझावों का कोई असर नहीं होगा। वह व्यक्ति आपसे नाराज हो जायेगा।

मनुष्य का स्वभाव है कि जब वह पहले अपनी तारीफ सुन लेता है तब बाद में उसके लिए बुराई सुनना आसान हो जाता है। दूसरों की अच्छाइयों को देखें। गुणों के लिए उसकी प्रशंसा कर दें। परिवार के सदस्यों

की विशेषताओं को नजरअंदाज न करें। बल्कि उनकी प्रशंसा करें। दूसरों की प्रशंसा करना अपनी आदतों में “उत्तम आदत” है।

**अपने घर में अतिथि की तरह रहें**—आपके घर कोई मेहमान आया हो, उसके लिए आप हरसंभव प्रयास करते हैं कि ये दो-चार दिन और रुकें। उसे आप अपने भोजन की तुलना में अच्छा भोजन कराते हैं। उनकी सारी सुविधाओं का खयाल रखते हैं। अपनी सुविधा घटाकर भी उनके लिए अधिक अनुकूलता प्रदान करते हैं। फिर भी वह अधिक समय या अधिक दिन रुकना नहीं चाहता। हम अपने परिवार के बीच ऐसे ही रहें। सद्गुरु कबीर ने कहा है—

*जाको जाना उत घरा, सो क्यों जोरे मीत।*

*जैसे पर घर पाहुना, रहे उठाये चित्त।।*

(साखी ग्रंथ)

*दो दिन है इस घर में रहना, आखिर जाना जरूरी रे।।*

(सद्गुरु श्री अभिलाष साहेब जी)

सारा संसार ही अतिथि गृह है, मुसाफिरखाना है। यहां मोह-शोक करने की जगह नहीं है। यहां आकर हम अपना काम (मोक्ष) कर लें, बस। किसी भी व्यक्ति या वस्तु का संबंध केवल व्यवहार चलाने हेतु है। किसी को गहराई से अपना मानेंगे तो दुख होगा। क्योंकि अंत में सब छुट जाना है। हर समय मन में यह भाव बना रहे कि जितना मैं संग्रह कर रहा हूँ अंततः सब यहीं रह जायेगा। एक दिन शरीर ही मेरे से अलग हो जायेगा। जब मरना ही है तो क्यों न सबसे हंस-हंसकर बात कर लें। सबसे प्रेम का बर्ताव करें। राग-द्वेष, लड़ाई-झगड़ा भी यदि किसी से हो जाये तो अपनी गलती स्वीकार लें। “जीना ऐसा जीना हो कि जिन्दगी निखर उठे, मरना ऐसा मरना हो कि मौत भी चमक उठे।।” जिसे हर क्षण याद रहता है कि दुनिया छोड़ जाना है वह कहीं बंधता नहीं। इस अनंत देश-काल रूपी संसार में मनुष्य का जीवन पहनाई मात्र है।

संसार में रहें मगर सांसारिकता मन में न रहे। कमल जल में खिलता है, मगर उसमें लिपायमान नहीं होता। धनी घरानों में धाय (नौकरानी) बच्चों को पालती, खिलाती-पिलाती है। जब नौकरी छोड़कर



जाती है तो उसे दुख नहीं होता क्योंकि वह भीतर से मानती है कि “यह मेरा नहीं है।” यही सूत्र हमारे जीवन के लिए उपयोगी है—न मैं किसी का हूँ, न मेरा कोई है। दुनिया से उदासीन रहें जैसे सूखा नारियल होता है। कच्चे नारियल की गरी खटोली (छिलके) से चिपकी रहती है उसे निकालते समय काफी मेहनत पड़ती है। सूखा नारियल छिलके से एकदम अलग रहता है। एक टोकर से ही गरी अलग हो जाती है। हमारा मन इस दुनिया में कैसा है हम स्वयं इसकी परीक्षा कर लें। संसार की आसक्ति अभी बची हुई है, राग है तो हमारा मन कच्चे नारियल की भांति है और अगर मोह समाप्त हो गया है तो सूखे नारियल की भांति। हमारा मन एकदम पक जाना चाहिए। सद्गुरु श्री निर्मल साहेब जी ने बहुत सुंदर कहा है—

*मरना है जब अवश्य, मोहबबत करना झूठा।*

*करिये भजन विचार, विषय से रहिये रुठा॥*

(निर्मल सत्यज्ञान प्रभाकर)

**घर भी तीर्थ है**—गृहस्थाश्रम सभी आश्रमों की जननी है। यहीं से गृहस्थ और विरक्त दोनों का जन्म होता है। गृहस्थ तो यहां रहते ही हैं जिन्हें हम विरक्त कहते हैं वे भी गृहस्थाश्रम में ही पलते हैं। नींव जितनी मजबूत होती है भवन उतना ही मजबूत बनता है।

परिवार के सभी सदस्य देवी और देवता हैं। पर मुख्यतः मां घर की देवी है।

कहा गया है “जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसि”। मां और मातृभूमि स्वर्ग से भी अधिक वजनदार (श्रेष्ठ) है। अतः माता-पिता की सेवा सर्वश्रेष्ठ सेवा है। पर क्या हो गया है आज के इंसान को, जिस माता-पिता ने जन्म दिया है, पाल-पोषकर बड़ा किया है उनको भोजन, पानी देना तो दूर उनसे ठीक से बात भी नहीं करना चाहते हैं। माता-पिता जब तक जिन्दा रहते हैं उन्हें पानी-भोजन नहीं देते, उनसे बोलते भी नहीं। किन्तु जब मर जाते हैं तब उनके फूल चढ़ाने हरिद्वार, प्रयाग आदि जाते हैं। ऐसे लोगों को सोचना चाहिए कि जब तक माता-पिता जीवित थे क्या कभी उनके चरणों में एक फूल चढ़ाया? उनके प्रति श्रद्धा किया।

ऐसे लोगों के लिए ही कहा गया है—“जियत पिता को डण्डम डण्डा, मुये पितर को पानी पण्डा।”

आदमी मंदिर जाता है। काष्ठ या धातु की मूर्ति को प्रणाम करता है। उसके सामने हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाता है—“त्वमेव माता च पिता त्वमेव।” किंतु घर आकर माता-पिता से गाली-गलौज, झगड़ा-लड़ाई करता है। तो क्या उसका मंदिर जाना सार्थक हुआ? मां-बाप की सेवा असली पूजा है यही संतान का सच्चा धर्म है। एक सच्ची घटना है—सायंकाल संपन्न परिवार की बहू अपने पति और सास को भोजन परोसती है। सास (लड़के की मां) आधे मन से भोजन करती है। पति भोजन कर लेता है। ऐसा लगातार तीन दिनों तक चलता रहा। तीसरे दिन लड़के ने देखा कि मां भोजन करना छोड़कर रो रही है। उस युवक से रहा नहीं गया। वह भोजन करना छोड़कर मां के निकट जाकर बड़े प्रेम से कहा—मां, पहले भोजन कर लो फिर बताना कि क्या तकलीफ है। अच्छा चलो, आज मैं ही भोजन करा देता हूँ। उसका हाथ जैसे ही भोजन को स्पर्श किया उसे यह समझते देरी न लगी कि मां के रोने का कारण क्या है? कारण था कि मां की थाली में जो भोजन परोसा गया था वह बासी था, और खुद उसकी थाली में गरम भोजन। उस लड़के ने थाली बदल दिया। गरम भोजन मां को खिलाया और स्वयं ठंडा भोजन करते हुए कहा—मां, यह बेवकूफ स्त्री अगर आपके लिए भोजन नहीं बनाती है तो मैं स्वयं आपके लिए भोजन बनाऊंगा और खिलाऊंगा। यही है मां-बाप की सच्ची पूजा। आज भी इस धरती पर श्रवण कुमारों की कमी नहीं है। मां-बाप की सच्ची पूजा उनकी सेवा करना है न कि मरने के बाद दीवार पर चित्र लगाकर आरती उतारना अथवा पितृ पक्ष में उनके नाम से भोग लगाना। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो अपनों के साथ-साथ औरों के भी माता-पिता की सेवा-सहायता कर लेते हैं। कुछ लोग वे होते हैं जो अपने ही माता-पिता की सेवा न कर उन्हें वृद्धाश्रम में डाल आते हैं।

सार यह है कि गृहस्थी में माता-पिता के चरणों से बढ़कर दूसरा कोई तीर्थ नहीं है। उनकी सेवा ही सच्ची पूजा तथा मानव का कर्तव्य है।

एक साथ मिलकर भोजन और भजन करें—परिवार में सुख और शांति से जीवन जी रहे हैं इसका सिगनल है “हंसी”। जिस परिवार में आपस की हंसी गायब हो रही है समझ लीजिए कि वह परिवार ज्यादा दिन टिका नहीं रह सकता। जिस परिवार में लोग एक साथ बैठकर भोजन करते हैं और कुछ भजन (धार्मिक अनुष्ठान) कर लेते हैं वह सफल गृहस्थी है। इसके दो फायदे हैं, साथ-साथ भोजन करने से भोजन बनाने वाले को असुविधा नहीं होती तथा साथ बैठकर लोग आपसी सुख-दुख की चर्चा कर लेते हैं। और आगे क्या करना है इसकी प्लानिंग सोच लेते हैं। परमपूज्य सद्गुरु श्री अभिलाष साहेब जी कहा करते थे कि परिवार में चौबीस घंटे में एकबार हंसी का कहकहा जरूर होना चाहिए।

बच्चों के मन में धार्मिकता के बीज बोयें। पूरे दिन में कम से कम शाम को किसी पवित्र ग्रंथ का पाठ करें उसमें घर के सभी सदस्य सम्मिलित हों। बच्चों को यह प्रेरित करें कि किसी ग्रंथ को पढ़कर आपको सुनायें। पांच मिनट ही सही स्वयं ध्यान करें और बच्चों को करायें। जो इतना भी नहीं कर सकता है वह सिर्फ इतना ही करें कि किसी महापुरुष के चित्र के सामने बैठकर थोड़ी देर पूजा-आरती करें और बच्चों से करायें ताकि नयी पीढ़ी के अंदर भक्ति-भावना के संस्कार पड़े रहें।

घर में साधना कक्ष बनायें—पहले लोग मकान बनाते थे तब घर में एक पूजा कक्ष जरूर होता था। उसमें सुबह-शाम अपने ढंग से पूजा-उपासना किया करते थे। आज आदमी टी.वी. के सामने बैठकर समय गंवाता है या व्यर्थ बातों में और पूजा-उपासना के लिए बहाना करता है कि समय नहीं निकलता। पूजाकक्ष बना भी लेते हैं तो वहां बैठते ही नहीं फिर पूजा-स्थल बनाना भी सार्थक नहीं होता। जो समझदार हैं ज्ञान, ध्यान, उपासना का महत्त्व समझते हैं वे आज भी उपासना कक्ष रखते हैं और नित्य अध्ययन, ध्यान करते हैं। सन की जुलाई में छत्तीसगढ़ के एक गांव में एक भक्त ने सत्संग का आयोजन किया। कुछ संतों के साथ मैं भी वहां पहुंचा तो देखा एक कमरा के बाहर दरवाजा पर लिखा था “साधना कक्ष”। मेरे मन

में कुतूहल हुआ। मैंने उस परिवार के छोटे भाई से कहा—क्या मैं आपका साधना कक्ष देख सकता हूँ? उन्होंने दरवाजा खोलकर दिखाया। कमरा लिपापोता एकदम साफ था। कुछ महापुरुषों के चित्र लगे थे। नीचे आसनी बिछी थी। मैंने पूछा—यहां साधना कौन करता है। उन्होंने बताया दूसरा नंबरवाला बड़ा भैया और मैं (वे लोग पांच भाई हैं)। यों तो घर के सभी लोग ध्यान-साधना करते हैं परन्तु दोनों भाई विधिवत नित्य सुबह-शाम ध्यान-साधना करते हैं। उसके बाद ही दूसरा काम करते हैं, व्यापार में जाते हैं। इसका प्रत्यक्ष फल उन लोगों के जीवन में देखने को मिला। पांच भाइयों का परिवार एक साथ रहता है। जिसमें उस समय (अट्टाईस) सदस्य थे। सबका भोजन एक ही जगह एक जैसा बनता था और सब इकट्ठे होकर साथ-साथ भोजन करते थे। सब सुखी, संतुष्ट नजर आते थे। बच्चों से लेकर वृद्ध तक सबके हृदय में भक्ति-भावना झलकती थी। घर में बैठते ही (प्रणाम) बंदगी करने वालों की लाइन लग गयी थी।

मन की शांति का काम व्यक्ति का प्राइवेट काम है। इसे प्रत्येक मनुष्य को करना चाहिए। स्कूल में पढ़ने वाले बच्चे दिन भर स्कूल में पढ़ते हैं और जब घर आते हैं तो Home work करते हैं इसी प्रकार दिनभर हम जीवन गुजर के कार्यों में व्यस्त रहते हैं इसलिए शाम और सुबह अपना Home work जरूर करें। इससे मन दिनभर प्रफुल्लित, आनंदित, एकाग्रचित्त रहेगा। तथा किसी कार्य को करने के लिए नया उमंग, उत्साह बना रहेगा। अतएव जीवनोद्देश्य की प्राप्ति के लिए बाह्य सुख की आशा छोड़कर हमें अपने आप में मुड़ना चाहिए।

जो सांप का घर है वह साधु का नहीं—किसी के घर सांप घुस जाता है तो लोग भीतर जाना नहीं चाहते। उनके अंदर भय सवार हो जाता है। क्योंकि सुन रखा है कि सांप के काटने से आदमी मर जाता है। यद्यपि सांप के काटने की पीड़ा का अनुभव सबको नहीं रहता है। उस सांप को लोग किसी भांति निकालकर मार डालते हैं। बाहर के सांप को मार लेना आसान होता है किन्तु भीतरी सांप को समझना और उसका त्याग करना कठिन होता है। सद्गुरु कबीर ने कहा है—

जो घर हैगा सर्प का, सो घर साध न होय।  
सकल सम्पदा ले गये, विष भरि लागा सोय।।

(बीजक, साखी)

जो सांप का घर होता है वह साधु-साधक का घर नहीं होता। सांप का घर क्या है? सांप का घर है—अहंकार, देहाभिमान, विषयासक्ति और कुसंग। जहां विषयासक्ति, देहाभिमान रूपी सर्प निवास करते हैं वहां साधना नहीं हो सकती। क्योंकि वहां तो साधक की सद्गुण रूपी संपत्ति लूट जाने का ही भय बना रहेगा और सांसारिक विषयवासनाओं का विष लगा रहेगा। साधक का काम है सांसारिकता का त्याग करते हुए साधना मार्ग में आगे बढ़ना। साधक का पथ है विनम्रता, सरलता, सहनशीलता। क्योंकि उसे असली मंजिल तक पहुंचना है।

कुसंग साधक के लिए सबसे जहरीला सांप है। पता भी नहीं चलता है कि कुसंग रूपी सांप ने मुझे डस लिया है। वह चुपके से अपना शिकार बनाता है और जो असावधान होते हैं वही इसमें मरते हैं। अपना पतन करते हैं। साधक को सावधानीपूर्वक तटस्थ होकर यह निर्णय करना चाहिए कि अपने जीवन का चुनाव चिह्न क्या है—परवशता, विवशता या स्ववशता, शांति। चुनाव आपको ही करना है। अगर आपका चुनाव चिह्न सचमुच मोक्ष है तो कुसंग व माया मोह के आवरण से सदैव अपने आप को अलग रखने का प्रयास करें। दुनिया की मायावी पदार्थों के पीछे न दौड़ें। क्योंकि कंकड़ की सुरक्षा करते-करते हीरा खो जाता है। अतः साधक सच्चा हीरा 'आत्मा' को पहचान कर उसमें सदैव लीन रहें।

**पाप कमाई तू घर में न लाना**—मनुष्य समाज में रहता है इसलिए उसे मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु धन अवश्य चाहिए। धनार्जन सात्त्विक होना चाहिए। किसी भी प्राणी को तड़पाकर जो धन संग्रह किया जाता है वह एक दिन काटने लगता है। अधिक रुपया आने पर आदमी की चाल-ढाल सब बदल जाते हैं। गंदी आदतों का शिकार होता चला जाता है। फिजूल का पैसा धर्म में नहीं लगता बल्कि धर्म से बहुत दूर ले जाता है। गलत ढंग से धन कमाने से धन बढ़ जाता है किन्तु वह शांति से जीने नहीं देता। जवानी

के जोश और धन की तृष्णा में पड़कर हित-अनहित, पाप-पुण्य, करणीय-अकरणीय सब भूल जाता है। फिर अंत में बिलबिलाता हुआ मरता है। पश्चाताप करता है। सुख से जीने का तरीका है अपनी मेहनत से जो प्राप्त हो उसमें जीवन निर्वाह करना और सदा संतुष्ट रहना।

**आत्मज्ञान का दीपक जलायें**—सायंकाल लोग अपने घर में किसी महापुरुष के चित्र के सामने या तुलसी चौरा में प्रायः दीप जलाते हैं। दीप जलाना अच्छा है, थोड़ा अपने मन को तसल्ली मिलती है कि कुछ कर रहे हैं। किन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। अपने घट में दीपक जलाने की आवश्यकता है—“अपने घट में दियना बारू रे, घट के भीतर बहुत अंधेरा ब्रह्म अग्नि उजियारू रे” (कबीर भजनावली)। घर का अंधेरा दूसरा आदमी भी दूर कर सकता है। मगर घट (अन्तःकरण) का अंधेरा स्वयं दूर करना पड़ेगा। अन्तःकरण का अंधेरा बहुत पुराना है। अब भी ज्योति जला लें। आप कहीं भी दीपक जलाते हैं थोड़ी देर पश्चात बुझ जाता है। इसलिए ऐसा दीपक जलायें जो कभी न बुझे, ऐसा तत्त्व आपके भीतर सदैव चमक रहा है। चूंकि हमारी दृष्टि उधर नहीं गई है इसलिए अनुभव नहीं होता है।

हम बाहरी चमक-दमक में भूल गये हैं। इसलिए भीतरी चमक प्रतीत नहीं होती है। बाहर से मुड़कर जब हम निजपद में आ जाते हैं, चंचलता को छोड़कर स्थिर हो जाते हैं, तब भीतरी सुख का अनुभव होता है। चेतन द्रष्टा है चित्त दृश्य है। साधक साधना द्वारा निरंतर चित्त को ठीक करता रहता है। जब चित्त पूरा विलीन हो गया साधक समाधि में पहुंच गया। ध्यान द्वारा स्वरूपज्ञान में लीनता ही घट का दीपक है। जिसे भगवान बुद्ध ने कहा—‘अप्य दीपो भव’। सद्गुरु कबीर का तो महामंत्र ही है—

जो तू चाहै मूझको, छाँड़ सकल की आस।

मूझ ही ऐसा होय रहो, सब सुख तेरे पास।।

(बी.सा.)

जीव का असली मुकाम स्वरूपस्थिति है जो कभी अलग नहीं होती है। साधक निरंतर साधना अभ्यास से उसको प्राप्त करता है। यही है परम सुख, परम शांति, परमानंद, परमात्मत्व दशा। □

# आओ मरना सीखें

लेखक—श्री विमलनाभ श्रीवास्तव

यह क्या? मरना भी कोई सीखने की चीज है। कौन मरना चाहता है। लगभग सभी सदा जीवित रहना चाहते हैं। जीने की लालसा कभी समाप्त नहीं होती, इसी को जिजीविषा कहते हैं। सभी जीने की कला सीखना चाहते हैं और यहां मरने की कला सीखने की बात कही जा रही है। क्या मरना सीखने के लिए कोई प्रशिक्षण संस्था है? हां, ऐसी संस्था संत समाज का सत्संग है जहां ऐसे सद्गुरु के सान्निध्य में प्रशिक्षण दिया जाता है जो मरने की कला में निपुणता प्राप्त कर चुके हैं।

पहले तो यह जान लें कि क्यों मरना सीखें? इसके लिए यह जानना आवश्यक है कि हमने समस्त जीव धारियों में सर्वश्रेष्ठ मानव जीवन किसलिए प्राप्त किया है। क्या बारबार जन्मने-मरने के लिए? नहीं, अपितु इसी जीवन में पूर्ण शान्ति प्राप्त करने के लिए, जन्म-मृत्यु के चक्कर से अपने आप को छुड़ाने के लिए जिससे पुनः शरीर धारण न करना पड़े। इसका अभिप्राय यह है कि हम किसी बन्धन में बंधे हैं, जिससे छुटकारा पाना चाहते हैं। वह बन्धन है हमारी इच्छाएं, वासनाएं, कामनाएं; जो इस जन्म में पूरी नहीं हो पातीं उन्हें पूरा करने के लिए पुनः जन्म लेना पड़ता है। जब तक ये इच्छाएं रहती हैं निरन्तर गुणक अनुपात में बढ़ती रहती हैं जो कभी पूर्ण नहीं होतीं, इनका बन्धन और मजबूत होता जाता है। अतः बार-बार जन्म-मृत्यु के चक्कर में घूमना पड़ता है। इस जन्म-मृत्यु के चक्कर से छुटकारा पाने के लिए ही हमें मरने की कला सीखने की आवश्यकता है। इच्छाओं, कामनाओं को निर्मूल कर देना और अभय होकर मृत्यु की ही मृत्यु कर देना ही मरने की कला है। यह कला सभी प्रकार के भार से रहित होकर अकेले मरने की है।

प्रायः लोग कहते हैं “आये हैं अकेले, जायेंगे अकेले।” इसका अभिप्राय यह है कि यह शरीर अकेले पैदा हुआ है और अकेले ही इस संसार को छोड़कर

चला जायेगा। यह बात इस जड़ शरीर के बारे में कहा गया है। यहां अकेले मरने की कला का सम्बन्ध जड़ शरीर से न होकर इसमें निवास करने वाले चेतन (जीवात्मा) से है जो जन्म-मरण के भवसागर से पार हो जाना चाहता है अर्थात् मोक्ष प्राप्त करना चाहता है। वास्तव में जीव अकेले पैदा होता है उसके साथ कोई इच्छा, वासना, कामना नहीं रहती है। यही बन्धन बढ़ाती है जिससे मानव छुटकारा पाना चाहता है। जीवन के उत्तरोत्तर काल में इन सबका प्रादुर्भाव होता है और ये जीव पर अपनी पकड़ दृढ़ करते जाते हैं। यदि जीव जीवन काल में इन सबसे प्रभावित नहीं होता है अर्थात् इन सबको समाप्त कर देता है तो मरते समय जीव का चित्त बिलकुल शीतल, निर्मल और शान्त रहता है। यह निर्विचार एवं संकल्प-शून्य होकर शरीर से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लेता है और यही सबसे अलग होकर मरना है। अकेला हो जाना ही बन्धन से मोक्ष-प्राप्त करना है। इस प्रकार मरना मोक्षधर्मा है। जो जीव इन इच्छाओं, वासनाओं एवं कामनाओं के भार से दबकर प्राण छोड़ता है उसका मरना “मृत्युधर्मा” है। ऐसे जीव जन्म-मरण के चक्कर में घूमते रहते हैं। आशा है अकेले मरने का अभिप्राय समझ में आ गया होगा। जीव पैदा होने के बाद समाज में जिस प्रकार अपना सम्बन्ध बढ़ाता जाता है उसी प्रकार अपनी इच्छाओं, वासनाओं एवं कामनाओं का भी विस्तार करता जाता है।

सामाजिक दृष्टिकोण से तो हर आदमी अकेले ही मरता है। यदि कोई किसी के साथ मरना चाहे तो यह कदापि सम्भव नहीं है। परन्तु बहुत कम लोग ऐसे हैं जो अपनी इच्छाओं, वासनाओं एवं कामनाओं को त्यागकर मरते हैं। मरने की कला में हमें यही सीखना कि जिस प्रकार हम इन इच्छाओं, वासनाओं एवं कामनाओं से रहित पैदा हुए थे, उसी प्रकार हम इनको इसी जीवन में कैसे छोड़ें जिससे चित्त में निर्मलता,

शीतलता एवं शांति प्राप्त कर अपने निजस्वरूप में स्थित हो जायें और हमें अपने स्वयं के बनाये हुए बन्धनों से पूर्ण मोक्ष मिल जाये। “यही अकेले मरने” का अभिप्राय है। हमें इसी कला को सीखना है।

यह अटल सत्य है कि जो इस संसार में आया है उसे जाना है। कहा गया है—‘आये हैं सो जायेंगे, राजा रंक फकीर। एक सिंहासन चढ़ चले, एक बंधे जंजीर’।

मरने की कला को जिसने सीख लिया, वह जंजीर में बंधकर नहीं जायेगा। क्योंकि उसने इच्छा, वासना, राग-द्वेष, लोभ-मोह, काम-क्रोध, अहन्ता, ममता, आशा-तृष्णा आदि को इसी जीवन में यहीं छोड़ दिया है। वह सिंहासन पर आरूढ़ हो चुका होता है।

मनुष्य जिस चादर को ओढ़कर इस संसार में आता है उस पर काम-क्रोध, राग-द्वेष आदि विकारों के छींटे नहीं रहते। बिरले कोई होगा जिसके जीवन काल में उसकी चादर पर इन विकारों के छींटे न पड़े हों। मरने की कला में यही सीखना है कि जिस चादर को ओढ़कर आये थे उस पर इन विकारों के छींटे न पड़ें। यदि पड़ भी गये हों तो इसी जीवन में धोकर चादर को पहले की तरह ही साफ कर दें। इस कला को सद्गुरु कबीर ने बखूबी सीखा था। इसी से वे कहते हैं कि “दास कबीर जतन से ओढ़ी जस की तस धर दीन्हीं चदरिया”।

मानव जीवन का अस्तित्व संसार-समाज में रहकर ही है। इससे अलग रहकर जीना सम्भव नहीं है। परन्तु सही जीने की कला यह है कि सांसारिक कर्तव्य को करते हुए भी हम इससे पूर्ण अनासक्त रहें। जैसे ‘कमल पत्र’ पानी में रहता है। पानी से ही उसका जीवन है, पानी से अलग होने पर उसका जीवन समाप्त हो जाता है, फिर भी पानी की एक बूंद भी उस पर नहीं टिकती। ऐसे ही जीवन के आवश्यक कर्मों को करते हुए भी अनासक्त रहना है। जैसे जीभ प्रतिदिन तेल-घी चिकनाई युक्त खाद्य पदार्थ खाती है परन्तु उस पर चिकनाई का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यदि शरीर के किसी अंग में चिकनाई लग जाये तो उसे साफ करने के लिए साबुन का प्रयोग करना पड़ता है। परन्तु जीभ को

चिकनाई से मुक्त करने के लिए कभी साबुन का प्रयोग नहीं करना पड़ता। इस प्रकार से जीने की कला जिसको आ जायेगी उसको मरने की कला अपने आप आ जायेगी।

प्रायः मौत के नाम से ही सब भयभीत हो जाते हैं। परन्तु जिसने संसार की नश्वरता, जीव की असंगता, विषय-वासनाओं से विरक्ति, भोगों में अनासक्ति और वैराग्य की प्रकृति की सत्यता को पहचान लिया उसे मौत का भय नहीं रहता। वह तो मौत को आगे बढ़कर गले लगाता है। उसने मौत की मौत कर दी है। अब उसे नहीं मरना है। इस प्रकार मरने से पूर्ण आनन्द प्राप्त होता है क्योंकि उसे न तो जन्म लेना है और न मरना है। यही मरने की कला है। इस कला को सद्गुरु कबीर ने बखूबी सीखा था। तभी तो वे कहते हैं—

*जेहि मरने से जग डरे, मेरो मन आनन्द।*

*कब मरिहों कब पाइहों, पूरण परमानन्द॥*

जैसा कि प्रारम्भ में ही बताया गया है कि मरना सीखने की प्रशिक्षण संस्था संत समाज है जहां पर पूर्ण वैराग्यवान, स्वस्वरूप में स्थित जीवन को आत्मसात किये हुए प्रशिक्षक संत-सद्गुरु हैं। यहां पर सदाचार, संयम, प्रेम, दया, करुणा, सत्य, शील आदि सद्गुणों की शिक्षा दी जाती है। सद्गुरु उपदेश में निरन्तर वैराग्य की झड़ी लगाकर जीव की असंगता, संसार की नश्वरता, विषयों से विरक्ति एवं अनासक्ति की ओर मन को मोड़ देते हैं।

मन की एकाग्रता, चित्त की निर्मलता, शान्ति एवं शीतलता के लिए बार-बार ध्यान, साधना एवं समाधि का अभ्यास कराया जाता है। इसके लिए पाठ्य पुस्तक के रूप में सद्ग्रन्थ हैं जिनका अध्ययन इस मरने की कला में परिपक्वता प्रदान करता है। इस प्रकार सद्गुरु के सान्निध्य में प्रशिक्षण प्राप्त पूर्ण सफल जीव, जीते जी मनोविकारों को जीत कर परम शान्ति प्राप्त कर लेता है और अपने निज स्वरूप में स्थित हो जाता है। तथा सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है। उसको जन्म-मृत्यु के चक्कर से मोक्ष प्राप्त हो जाता है। मोक्ष-प्राप्त

करना ही मरना सीखना है। ऐसे व्यक्ति को न जीने की चाह होती है न मरने का गम क्योंकि वह जीवन और संसार के सत्य स्वरूप को आत्मसात कर लिया होता है। उनकी चाहना एवं चिन्ता सब समाप्त हो जाती है और वह निश्चिन्त हो जाता है। ऐसे ही व्यक्ति के लिए कहा गया है—

*चाह गई चिन्ता मिटी, मनुवा बे परवाह।*

*जाको कछु न चाहिए, सोई शाहन शाह॥*

ऐसे गुरु का सान्निध्य प्राप्त करने के लिए जो मूल्य चुकाना पड़ता है वह बहुत ही कठिन है। इसकी तुलना द्रव्य के रूप में नहीं की जा सकती अर्थात् धन से प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसके लिए कहा गया

है—“सीस दिये जो गुरु मिले तो भी सस्ता जान। इसके लिए शिष्य को यदि कुछ देना पड़ता है तो वह है प्रेम, श्रद्धा, विश्वास, समर्पण एवं त्याग। ऐसे प्रशिक्षण संस्था में वही प्रवेश पा सकते हैं जिन्होंने अपना मान, अभिमान, अहंकार, घृणा, द्वेष को त्याग कर सहनशीलता, विनम्रता, संतोष आदि सद्गुणों को ग्रहण कर लिया है।

मरते समय हमारा चित्त बिलकुल शीतल, निर्मल एवं शान्त रहे, निर्विचार एवं संकल्प-शून्य होकर शरीर से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लें तो यही अकेले मरना है और यही मरने की कला है जिसको “मरना सीखना” कहते हैं।

## धोखेबाज़ को प्रणाम!

लेखक—श्री कन्हैयालाल मिश्र ‘प्रभाकर’

उस दिन जीवन में एक घटना हुई। घटना अपने में इतनी साधारण है कि उस पर कोई ध्यान न दिया जाये, तो उसकी यह उपेक्षा किसी अपराध के दर्जे में खींच-तानकर भी दर्ज नहीं की जा सकती।

सर्दियों में श्रीमती विद्यावती कौशल बीमार हुई, तो सेप्टिक के भयंकर प्रकोप को रोकने के लिए उन्हें पैनिसिलीन के इन्जेक्शन दिये गये। पैनिसिलीन बर्फ में ही रह सकती है, इसलिए मैंने अपना बड़ा थर्मस उनके घर भेज दिया। वे अच्छी हो गयीं, पर थर्मस वहीं रहा।

गरमियां आयीं, तो बर्फ रखने के लिए मुझे ज़रूरत पड़ी। मंगाया, तो उत्तर मिला कि उसे तो तभी कुछ दिन बाद तुम्हारा आदमी ले गया था। सबसे पूछा, पर थर्मस लाने वाला मेरा कोई आदमी मुझे न मिला। मुझे यह सब अच्छा न लगा, बुरा ही लगा; क्योंकि मैं इसे अब अपने साथ एक भद्दी मज़ाक़ समझ रहा था।

मैं एक दिन स्वयं थर्मस लेने गया, तो उनका गम्भीर उत्तर मिला : “एक नौजवान मुसलमान यह कहकर थर्मस ले गया था कि तुमने मंगाया है।”

गयी बात और गयी चीज़ पर अफ़सोस करना मेरे स्वभाव के विरुद्ध है, इसलिए मन ही मन उस धोखेबाज़ नौजवान को कुछ गालियां दे, थर्मस मैंने बट्टे खाते किया और यह फाइल खत्म कर दी! मुझे थर्मस की बेहद ज़रूरत थी। बाज़ार में नया थर्मस दुकानों पर देखने को भी न था—लड़ाई के दिनों की बात है—पर मैं करता ही क्या?

कोई दो महीने बाद एक दिन उत्साह के स्वर में विद्या जी ने कहा : तुम्हारा थर्मस मिल गया। वह मुसलमान लड़का आया था; शाम को लायेगा थर्मस!”

“फिर धोखे से मेरा थर्मस वह शैतान ले ही क्यों गया था?” आश्चर्य से मैंने पूछा, तो करुणा के बोझ से दबी-सी वे बोलीं : “उसकी पत्नी को भी मेरी तरह भयंकर सेप्टिक हो गया था और उसे भी पैनिसिलीन के लिए ही थर्मस की ज़रूरत थी। वह शहर के कई बड़े आदमियों के पास गया, पर उस गरीब को किसी ने भी दो दिन के लिए अपना थर्मस नहीं दिया। अन्त में वह

डॉक्टर के पास जाकर रोया। उसकी पत्नी की हालत पल-पल खराब हो रही थी। डॉक्टर ने उसे बताया कि तुम्हारा थर्मस हमारे घर आया था। वह दौड़ा-दौड़ा तुम्हारे पास गया, पर तुम घर पर न थे। अब उसके सामने भयंकर घड़ी थी। बस, उसने आखिरी दावं लगाया कि वह हमारे घर आया और झूठ बोलकर थर्मस ले गया। उसकी पत्नी बच गयी, पर तभी वह उसे लेकर बाहर चला गया। पत्नी अब बिलकुल अच्छी है और वह उसे लेकर घर लौट आया है।”

साथ ही यह भी—“वह झूठ बोलने के लिए माफ़ी मांग रहा था और बहुत-बहुत हाथ जोड़ रहा था। कहता : बीबी जी, आपके थर्मस ने मेरा घर उजड़ने से बचा लिया।”

शाम को सचमुच वह मेरा थर्मस उन्हें दे गया!

अब मेरा थर्मस मेरे पास और मैं स्वयं दो प्रश्नों के बीच। ये दोनों प्रश्न जानता हूँ मेरे हैं, पर लग रहा है कि मुझसे ये अपना समाधान भी मांग रहे हैं। पहला प्रश्न यह है : जिन मनुष्यों ने संकट की उन हृदयबेधक घड़ियों में भी, घर में थर्मस रहते उसे मना कर दिया या टाल दिया, उनमें और भेड़ियों में क्या अन्तर है? और जैसे मैं स्वयं अपने से आप ही कह रहा हूँ : यह हमारी सामाजिक विषमता का, धन के व्यक्तिगत प्रभुत्व का, अभिशाप है कि अपने पास फ़ालतू थर्मस रखने का भी अधिकार है और एक को अपनी पत्नी की मृत्यु का भय सामने रहते भी उसे दो दिन के लिए पाने का अधिकार नहीं।

दूसरा प्रश्न यह : क्या उस तरुण ने थर्मस के लिए झूठ बोलकर पाप किया? निश्चय ही उसने झूठ बोला और झूठ बोलना पाप है। मैं चाह रहा हूँ कि कहूँ—हां, उसने पाप किया है, पर साहस मेरा साथ नहीं दे रहा है कि मैं सुगमता से हां कह दूँ! यहीं तक नहीं; वह विद्रोही होकर कहना चाह रहा है कि कहूँ—यह पुण्य है।

बात यह है कि पण्डा-पुजारियों के उस पाप-पुण्य में मेरा विश्वास नहीं है, जो स्वर्ग का बुकिंग-ऑफिस

या नरक का पासपोर्ट है। हां, चरित्र के उत्थान-पतन में मैं विश्वास करता हूँ और यहीं यह भी कि मैं उस नौजवान के इस कार्य को चरित्र की ऊंचाई ही मानता हूँ, पतन नहीं। निराशा, घबराहट और अवसाद की उन घड़ियों में सूझ की स्फूर्ति को जागृत रखना; उस समय भी अदीन और अभय रहना, यदि चरित्र नहीं है, तो मेरी दृष्टि में फिर चरित्र और कुछ नहीं है!

मेरे निकट इस घटना का एक पहलू और भी महत्त्वपूर्ण है कि वह अशिक्षित और निर्धन युवक समाज के अनेक प्रतिष्ठित पुरुषों के दुर्व्यवहार की प्रतिक्रिया से बच पाया। इतने बड़े मायाचक्र से वह कैसे बच पाया, यह स्वयं अपने में विस्मय का एक मायाचक्र ही है। उसे कई थर्मसपतियों ने थर्मस नहीं दिया; यह जानकर भी कि उसकी पत्नी पल-पल मृत्यु की ओर बढ़ रही है, इस घटना की यह प्रतिक्रिया क्या कुछ अस्वाभाविक होती कि अब वह स्वयं ही थर्मस-पति बना रहता?

यह कितनी असाधारण बात हुई कि उसने सब थर्मसवालों को एक ही गज से नहीं नापा। थर्मस न देने वालों पर उसे चाहे जितना क्रोध आया हो, पर धोखे से ही सही, थर्मस देने वाले के प्रति उसकी कृतज्ञता अभंग रही।

उस अशिक्षित तरुण के अन्तर में अनजाने समायी भारतीय संस्कृति का ही तो यह मूक प्रदर्शन था।

मेरा थर्मस अब मेरे पास था और मैं अब अपने में खिला जा रहा था। क्या मेरी प्रसन्नता का आधार यही था कि मेरा थर्मस मुझे मिल गया? ना, मेरी प्रसन्नता इतनी दुकानदार कभी नहीं हुई। इस घटना में मानवता का जो स्पर्श है, मुझे तो उसी ने पुलकित कर दिया है। यह जीवनप्रद पुलक न जाने कब-कब तक एक मधुर स्मृति के रूप में मुझे सुख देगा।

इस पुण्य पुलक के स्रष्टा उस धोखेबाज को मेरा प्रणाम!

( जिन्दगी मुस्करायी से साभार )

## संत मिलन सम सुख जग नाही

लेखक—श्री शिवप्रसाद मिश्र

जगतपुर गांव प्राकृतिक सौंदर्य का एक जाना पहचाना केन्द्र है। गांव की दक्षिण दिशा की ओर एक नदी बहती है। नदी के किनारे स्त्री-पुरुषों के लिए अलग-अलग घाट हैं जहां लोग स्नान करते हैं, कपड़े धोते हैं। गांव का पश्चिमी और उत्तरी भाग कृषि कार्य के लिए मशहूर है। गांव के पूर्वी भाग में घने विभिन्न वृक्षों के बाग हैं। इसी बाग के पूर्व-उत्तर के कोने पर हनुमान जी का विशाल मंदिर है। मंगलवार-शनिवार को सायं आरती के समय गांव के अधिक से अधिक लोग यहां इकट्ठे हो जाते हैं, फिर ढोलक की ध्वनि में भजन-कीर्तन हुआ करते हैं। बच्चों की भीड़ तो प्रसाद वितरण के समय देखने लायक रहती है। गांव के अधिक लोग खेतीबारी करते हैं, स्वभाव से धार्मिक हैं। लोग आपस में संगठित हैं। दुख-सुख में एक दूसरे के सहयोगी हैं।

पिछले कई वर्षों से कार्तिक महीने में हनुमान मंदिर के पास रामकथा का भव्य आयोजन हुआ करता है। मथुरा के स्वामी केशवानंद जी महाराज अपनी मधुरवाणी से रामकथा सुनाते हैं। गांव के लोग स्वामी जी और उनकी रामकथा से इतने प्रभावित हैं कि कभी कथाकार बदलते नहीं। गांव के लोग उन्हें आध्यात्मिक गुरु मानते हैं। सचमुच वे साधु स्वभाव के हैं भी। जब भी आयोजन होता है, स्वामी जी की सेवा में गांव के युवक सुधीर को लगा दिया जाता है। स्वामी जी का भोजन बनाना, उनके वस्त्र-बिस्तर की व्यवस्था आदि सुधीर ही करते हैं। सुधीर की सेवा से स्वामी जी बहुत प्रसन्न रहते हैं।

एक दिन स्वामी जी ने सुधीर को अपने पास बुलाया और कहा—‘बेटा सुधीर! तुम्हारी सेवा से मैं बहुत प्रसन्न हूँ। मैं नहीं सोच पाता तुम्हारी सेवा के बदले तुम्हें मैं क्या दूँ?’ सुधीर गम्भीर हो गया। वह विनम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर कहा—भगवन्, इस अभागे को आपके आशीर्वाद के अतिरिक्त कुछ नहीं चाहिए।

आप मुझे यही आशीर्वाद दीजिए कि यदि कर्मवश मुझे मानव तन पुनः मिले तो सम्पूर्ण अंग के साथ मिले वरन संसार में निर्दोष रहने पर भी बड़ा अपमान सहना पड़ता है। आप जानते हैं मैं एक पांव से लंगड़ा हूँ। यह रोग मेरे जन्म से है। भला इसमें मेरा क्या दोष है? फिर भी लोग मुझे अशुभ-अमांगलिक मानते हैं। मैं नित्य सुबह सूर्योदय से पहले उठता हूँ किन्तु घर से बाहर नहीं निकलता। न जाने किसे कहां जाना है, किस काम के लिए जाना है, मैं आगे न पड़ जाऊँ, कहीं उसका कार्य बाधित हो जाये, इसी भय से मैं बचता रहता हूँ। अपने पड़ोसी को मैं भाई साहब कहता हूँ, वे भी अपनापन रखते हैं किन्तु उनकी यात्रा में जब मैं आगे दिख जाता हूँ तो वे घर लौटकर अपना चेहरा दर्पण में देखते हैं फिर एक गिलास पानी पीते हैं तब फिर यात्रा में निकलते हैं। मुझे पता नहीं शायद ऐसा करने से विघ्न मिट जाता होगा। भगवन्, इतना ही नहीं गांव में बारात आने के समय या गांव से बारात जाने के समय मैं अपने घर पर ही रहता हूँ। मुझे भय रहता है कहीं मेरे सामने पड़ जाने से इस शुभ कार्य में कोई बाधा न पड़ जाये।

स्वामीजी, इस गांव में मैं अकेला ही अभागा नहीं हूँ, कुछ काने, अन्धे, लंगड़े, कोढ़ी और भी हैं। सभी को इस प्रकार का अपमान भोगना पड़ रहा है। विधवाओं को भी यही अपमान सहना पड़ता है। स्वामी जी! मैं धन्य हूँ जो इस लंगड़े को आपने अपनी सेवा में रख लिया है। आपको अमंगल का भय नहीं लगा। यह कहते-कहते सुधीर स्वामी केशवानंद के पांव पकड़कर रोने लगा। स्वामी जी ने सुधीर के सिर पर हाथ रखकर गम्भीर भाव में कहा—बेटा! तू मुझे बहुत प्रिय है। तुम्हारी सेवा की मैं सराहना करता हूँ। तुम सुखपूर्वक अपने घर जाओ। तुम्हारी पीड़ा का कल निवारण करूंगा। एक सेवा तुम्हें मैं अपनी ओर से सौंप रहा हूँ।



कल की कथा में गांव व गांव के आस-पास से उन सभी को कथा में ले आने का प्रयत्न करो जिन्हें लोग अशुभ समझते हैं। सुधीर स्वामी जी के चरणों में प्रणाम किये और अपनी आंखों के आंसू पोछता हुआ घर की ओर चला गया।

नित्य की तरह अगले दिन भी रामकथा प्रारम्भ हुई। स्वामी जी ने कुछ श्लोकों का पाठ किया फिर राम के पवित्र जीवन की चर्चा करने लगे। थोड़ी देर बाद राम चर्चा को स्वामी जी ने सुधीर का नाम लिए बिना सामाजिक कुरीतियों की ओर मोड़ दिया। कथा प्रेमियों की भीड़ को सम्बोधित करते हुए स्वामी जी ने कहा—“सज्जनो और देवियो, राम के वनवास काल में सभी वर्ण के लोग उनसे मिलने आते थे। वे सभी का समान रूप से आदर-सम्मान करते थे। उनके मार्ग में जब कभी काने, अन्धे, लंगड़े, लूले, कोढ़ी दिखाई पड़ते थे तो उनका हृदय करुणा-दया से भर उठता था। ऐसे लोगों को राम ने कभी अशुभ-अमांगलिक नहीं माना। सदैव उनके प्रति उनमें दया और करुणा के भाव रहे हैं। जिस प्रांगण में कथा हो रही है हनुमान जी का भव्य मंदिर है। अपनी सेवा-भक्ति के लिए हनुमान जी प्रसिद्ध हैं। देश-विदेश में जितने मंदिर भगवान राम के हैं उससे अधिक मंदिर हनुमान जी के हैं। आप सब जानते हैं भरत के बाण के कारण हनुमान जी एक पांव से लंगड़े हो गये हैं क्या उन्हें कोई अशुभ मानता है? संसार उनकी पूजा करता है। जब राम अयोध्या के राजा हुए तो हनुमान को राम दरबार में उच्च स्थान मिला।

हम लोग आज अपने रास्ते से भटक गये हैं। जब किसी काने, अन्धे, लंगड़े, लूले, कोढ़ी आदि को देखते हैं तो उनसे घृणा करते हैं। उनकी उपेक्षा करते हैं, उन्हें अशुभ-अमांगलिक मानते हैं। किसी की पत्नी मर जाती है तो पति अशुभ नहीं माना जाता किन्तु किसी का पति मर जाता है तो वह विधवा स्त्री अशुभ-अमांगलिक हो जाती है। किसी विधवा स्त्री के प्रति यह कितना घोर अन्याय है। वह बेचारी तो अपनी विपत्ति

में डूबी हुई होती है। उसके सामने तो सिर्फ अन्धेरा होता है और हम उसे उपेक्षित कर के उसकी पीड़ा और बढ़ा देते हैं।

इसी क्रम में स्वामी जी ने आगे कहा—सज्जनो और देवियो, मुझे इस गांव में कथा करते कई वर्ष बीत गये, मुझे जो भी दक्षिणा मिली हंसते-मुस्कराते स्वीकार किया। कभी कोई याचना नहीं किया आज तक, किन्तु आज मैं आप सबसे कुछ मांगना चाहता हूं। मुझे भरोसा है आप सब मुझे निराश नहीं करेंगे।

मेरा निवेदन है कि आप सभी लोग इस बात की प्रतिज्ञा करें कि गांव में या गांव के बाहर जहां कहीं काने, अन्धे, लंगड़े, लूले, कोढ़ी अथवा विधवा स्त्री दिखाई पड़े उसे आदर-सम्मान व सेवा भाव से देखेंगे। न तो उसे अशुभ समझेंगे न उपेक्षित करेंगे। आप सभी जितनी सेवा कर सकें, करें। असहायों की सहायता करना महापुण्य है। अपने शुभकार्य में उन्हें आमंत्रित करें, उन्हें आदर-सम्मान दें। भक्तजनो, होनी-अनहोनी की कोई तिथि-मुहूर्त नहीं होता। न जाने कब किसके साथ कौन-सी घटना घट जाये। किसी को अशुभ-अमांगलिक न समझें। वे दया और करुणा के पात्र हैं। हमें हृदय से उनकी सेवा-सहायता करनी चाहिए।

स्वामी जी के इस पवित्र विचार को सुनकर सभी भक्त जन एकाएक खड़े हो गये और हाथ उठाकर जोरदार शब्दों में कहने लगे—‘स्वामी जी! हम आपके निवेदन का हृदय से पालन करेंगे। स्वामी जी ने सभी भक्तों को बैठने के लिए कहा और उनके समर्थन की सराहना करने लगे। सुधीर के हृदय में आनंद की लहर उठने लगी। उसे लगा जैसे कोई खोया हुआ मूल्यवान रत्न उसके हाथ लग गया।

आज जगतपुर जनपद का एक आदर्श गांव है। संतों की अमृतमय वाणी सदैव ग्रहणीय है। सद्गुरुओं के बताए हुए मार्ग में ही हमारा कल्याण निहित है। इसीलिए तो कहा गया है—

*संत मिलन सम सुख जग नाही ।* □

## साँचे श्राप न लागे

( परम पूज्य गुरुदेव श्री अभिलाष साहेब जी द्वारा कबीर संस्थान, इलाहाबाद में ध्यान शिविर के अवसर पर दिनांक को प्रातः दिया गया प्रवचन।—प्रस्तुति श्री रामकेश्वर जी )

पूजनीय संत समाज, सज्जनो तथा देवियो ! प्रश्न होता है कि आपकी स्वतंत्रता किसमें है? इसका समाधान करना चाहिए। हर इंसान अपने आप से पूछे कि मेरी स्वतंत्रता किस बात में है। इसका उत्तर है कि सबकी स्वतंत्रता है सच्चाई में चलने में। दूसरे के सामने अपने को सही सिद्ध करने में किसी की भी स्वतंत्रता नहीं है। आजतक ऐसा कोई व्यक्ति नहीं हुआ जो सबके सामने अपने को सही सिद्ध कर सका हो और अपने को सही सिद्ध करने-कराने की जरूरत भी क्या है। कोई जरूरत नहीं है कि हम अपने को दूसरों से सही सिद्ध करावें। अब यह अलग बात है कि कहीं अपने ही विषय में बात आ गई हो, अपनी चर्चा होनी हो तो वहां अपनी वास्तविकता बतायी जायेगी। यह वहां होता है जहां समझने-समझाने की बात है। इसलिए हर कथन सब पक्ष से सही नहीं होता किंतु एक पक्ष में ही सही होता है।

किसी कथन को सब तरफ से सर्वांगीण रूप में व्यक्त करने की प्रक्रिया कम होती है। ऐसे कुछ ही प्रसंग होते हैं जो कह दिये जायं और उनका अर्थ वही हो लेकिन बहुत ऐसे प्रसंग हैं जो सापेक्ष होते हैं। सापेक्ष का मतलब है कि जो एक तरह से है, एक ढंग से है किन्तु उसके और भी पक्ष हैं जो विपरीत हैं।

जहां आपस में एक साथ रहना-बसना है, जिन लोगों के साथ में रहना है वहां स्पष्टीकरण की आवश्यकता होती है क्योंकि रोज-रोज वहां रहना होता है और सबके साथ में जीवन बिताना है तो खुलापन तो चाहिए ही। अगर किसी को कुछ भ्रम है तो मिल-बैठकर स्पष्टीकरण यदि न किया जायेगा तो भ्रम और फैलेगा, तकलीफ और बढ़ेगी और बिलावजह की बात बढ़कर परिवार और समाज को नष्ट करेगी। इसलिए वहां मिल-बैठकर विचार-विनिमय करना और अपनी

बात को रखना जरूरी है। लेकिन आप सबसे अपने को शुद्ध बताने की चेष्टा करें यह सम्भव नहीं है और इसकी जरूरत भी नहीं है। इसकी जरूरत वहां है जहां आप निरंतर रहते हैं।

जिस परिवार में आप रह रहे हैं वहां अगर भ्रम पैदा हो जाये और उस भ्रम को रहने दिया जाये तो वह परिवार को नष्ट कर देगा। इसीप्रकार समाज में कोई भ्रम पैदा हुआ और उस भ्रम को अगर रहने दिया गया तो वह समाज को नष्ट कर देगा। इसलिए उसका आपरेशन होना चाहिए, उसका निराकरण होना चाहिए, मिल-बैठकर उस वास्तविकता का स्पष्टीकरण होना चाहिए। जब स्पष्टीकरण हो जायेगा तब भ्रम मिट जायेगा और गलत सोचने वाले अपने आप लज्जित हो जायेंगे। वे सोचेंगे कि “हमें ऐसा नहीं करना चाहिए” और अपने को सुधारेंगे लेकिन आप सब जगह अपने को शुद्ध कहलवाने के चक्कर में रहें, सबको बतावें कि हम ठीक हैं यह उचित नहीं है। आप कहां तक बतायेंगे और आजतक कोई बता नहीं पाया है। इसलिए बताने के चक्कर में न पड़कर सही ढंग से चलने की चेष्टा करनी चाहिए। हमारी स्ववशता है—सद्बोध और सद्ग्रहणी में चलने में।

सच्चा ज्ञान के विषय को ही लीजिए। आप सबको कहां समझा सकते हैं कि हमारा ज्ञान सच्चा है। जो समझना चाहता है उसी को समझा सकते हैं। जो लोग कहते हैं कि अगर आपकी बात सच है तो आप मुझे समझा दीजिए लेकिन वे अगर हठी आदमी हैं तो आप क्या करेंगे। आप वहां यही कह सकते हैं कि चलिये भाई, आपकी ही बात सच है न और जब आपकी बात सच है तो आप ही अपनी बात सबको समझा दीजिए लेकिन वे ही कहां सबको समझा पाते हैं।

काशी की घटना है। एक आर्यसमाजी आदमी एक सनातनधर्मी को लेकर हमारे एक संत के पास पहुंचा जो उस समय काशी में रहकर अपनी पुस्तकों का प्रकाशन करा रहे थे। वह आर्यसमाजी उनके पास पहुंचते ही खण्डन करना शुरू कर दिया और कहने लगा कि आप लोगों के विचार गलत हैं। वह उद्वण्ड था। सभी मतों में कुछ उद्वण्ड लोग होते हैं।

जब वह खण्डन करना शुरू किया तो हमारे संत ने बहुत मधुरता और बड़ी चतुराई से काम लिया। वे तुरन्त परख लिये कि उस आर्यसमाजी के साथ जो सहायक आया है वह सनातनधर्मी है। उन्होंने उस आर्यसमाजी से कहा कि अच्छा यह बताइये कि यह शिवजी की नगरी है और यहां विश्वेश्वर नाथ की उपासना सर्वोच्च है, यह हम लोगों को मानना चाहिए कि नहीं।

तब उस आर्यसमाजी ने कहा—“बिलकुल नहीं मानना चाहिए। क्या मैं पत्थर पूजूंगा।” उसका इतना कहना था कि उसके साथ जो सनातनधर्मी आया था वह भड़क गया और बोल उठा कि अरे, बेवकूफ आदमी! क्या तुम शिवजी को पत्थर मानते हो। तुम तो मुझे यहां इन महात्मा से शास्त्रार्थ कराने ले आये थे और मेरे ही सिद्धान्त का खण्डन करने लगे। इसप्रकार उसने उस आर्यसमाजी को फटकारना शुरू कर दिया। फिर वे दोनों आपस में ही लड़ गये और बात ही खत्म हो गयी। दोनों मिलकर संत से लड़ने आये थे लेकिन आपस ही में लड़ गये।

हमारे उस संत ने उस आर्यसमाजी से कहा कि अच्छा, आप यह बताइये कि आप तो आर्यसमाजी हैं। आपकी बात बिलकुल सच है। आप अपनी बात को सनातनधर्मियों को समझा दीजिए तब मैं आपको समझा दूंगा। तब वे लज्जित हो गये। तो कौन दूसरे को समझा पाया है।

सभी संतों, महापुरुषों को जीवनभर यह कसक रही है कि हमारी बात को लोग समझ नहीं रहे हैं। सद्गुरु कबीर भी कैसा कहते हैं—

हम तो सबकी कही, मोको कोइ न जान।  
तब भी अच्छा अब भी अच्छा, युग युग होऊँ आन॥

हमने तो सबकी बात कही लेकिन हमको कोई समझ नहीं पाया। नहीं समझ पाया तो कोई बात नहीं, तब भी अच्छा था, अब भी अच्छा है और आगे भी अच्छा रहेगा। सारी बातें वे कहते हैं। पहली बात वे यह बता रहे हैं कि मैंने तो सबकी बात कह दी। सबके कसर-खोट को बता दिया, वास्तविकता बता दिया। और दूसरी बात वे कहते हैं कि मुझको लोग समझ ही नहीं पा रहे हैं।

साहेब कहते हैं—“मोको कोइ न जान।” “दिल का महरमि कोई न मिलिया।” मैंने बीजक में जहां इस साखी की व्याख्या की है वहां कहा है कि बिरले-बिरले जाने। मूल में तो यह है कि “कोई न जान” कोई नहीं जाना लेकिन उसका लाक्षणिक अर्थ है कि कुछ लोग जाने। यदि कोई न जानता तो यह परम्परा हम लोगों तक आती कैसे। कोई जाना तब तो यह परम्परा हम लोगों तक आयी। लोग शुद्ध चित्त से उनको समर्पित थे। “कोई न जान” का अर्थ यही है कि अधिकतम लोग ज्यादा प्रवाह में नहीं समझ पाये और सभी महापुरुषों के विषय में यही बात है।

तथागत बुद्ध, महात्मा महावीर, हजरत मुहम्मद, संत ईसा, गुरु नानक, कबीर साहेब, गोस्वामी जी कोई भी रहे हों, नाम कहां तक लिया जाये उनकी बात को बहुत लोग नहीं समझ पाये। यह कसक उनके मन में रही लेकिन जिनको विवेक है उनको ऐसी कसक नहीं होती है कि मैं तो असफल हूँ। साहेब कहते हैं कि “तब भी अच्छा अब भी अच्छा, युग युग होऊँ न आन” मेरे में कोई फरक पड़ने वाला नहीं है।

पंडित मत्सरता भरे, भूप भरे अभिमान।  
और जीव या जगत के, मूरख महा अजान॥  
मूरख महा अजान, देखि के संकट सहिये।  
छन्द प्रबन्ध काव्य, रस कासो कहिये॥  
बुद्ध भई मन मांहि, मधुर वाणी गुण मंडित।  
अपने मन को मारि, मौन धरि बैठत पंडित॥

यह महाराज भर्तृहरि जी के वैराग्य शतक के एक श्लोक का हिन्दी अनुवाद है। वे कहते हैं—‘पंडित तो ईर्ष्या में विदग्ध हैं। वे दूसरे की उन्नति देख नहीं पाते। राजाओं को अभिमान का विष चढ़ा है। जगत के बाकी जीव मूर्ख हैं वे समझ ही नहीं पाते। उनको देखकर संकट होता है। “छन्द प्रबन्ध काव्य रस कासो कहिये”-छन्द, प्रबन्ध, काव्य रस किससे कहा जाये। अतः सुंदर गुणों से मंडित-गुणों से सुशोभित मधुर वाणी अन्दर ही अन्दर बुढ़ा गयी। कहने की जगह ही नहीं मिलती। इसलिए विवेकवान अपने मन को मार कर मौन होकर बैठ जाते हैं। यह स्वर एक का नहीं है किंतु सबका है। इसलिए विवेकवान समझाते हैं और लोग समझते हैं। समझने-समझानेवाले तो हैं ही। यदि वे न होते तो यह परम्परा कैसे चलती। अपनी ही बात मैं बताऊं। मुझे सद्गुरु न मिले होते और रास्ता न दिखाये होते तो क्या आज मैं इस स्थिति में होता। मैं इस स्थिति में नहीं होता और पता नहीं कहां नाली के कीड़े बनकर बह रहा होता। यह तो सद्गुरु, संतों और भक्तों की कृपा है जो मैं इस स्थिति को पाया।

मैं तो शुरू-शुरू के उन भक्तों के भी उपकार को याद करता हूँ जिन्होंने व्यंग्य और विनोद में ही सही, मुझे कहा और सहारा दिया। उनके उपकार की मुझे याद होती है तो मेरा मन गदगद हो जाता है। प्रथम-प्रथम तो ऐसे भक्त का उपकार मुझे बारम्बार याद होता है जो इतना ही योग्य था कि किसी तरह पुस्तक पढ़ लेता था। वह बहुत सामान्य श्रेणी का आदमी था और राजगीर का काम करता था।

हमारे मकान में जब कुछ टूट-फूट हो तो वही बनाने आता था। उस समय मेरी लम्बी और मोटी चोटी रहती और शैव पद्धति से बेड़वा चंदन मैं रोज लगाता और रोज पूजा करता। जब वह राजगीर मुझको देखता तो हंसता और कहता कि जब कबीर साहेब को समझोगे तभी पता लगेगा कि असली चीज क्या है। ऐसा कहकर वह खण्डन शुरू कर देता।

मैं उससे कहता कि भाई, खण्डन मत करो, मंडन करो। हम जो ठीक नहीं करते हैं उसे छोड़ो, जो बताने वाली बात हो उसे हमसे कहो।

वह भक्त कहता कि अरे भइया! संत जब मिलेंगे तब बतावेंगे और कबीर साहेब की बात जब पढ़ोगे तब पता लगेगा। अभी तो तुम ऐसे ही भटक रहे हो। उसकी बात व्यंग्य में ही रहती लेकिन उसका मुझसे प्रेम था। वह मजदूर था और हमारे यहां काम करने आता था तो बात कहता था। हर आदमी स्वतंत्र होता है। जैसा उसका विचार होता है, जैसा उसका लहजा होता है, वैसा वह कहता है। उस भक्त का उपकार मुझे याद आता है क्योंकि उसने एक संकेत दिया फिर धीरे-धीरे संत मिले, सद्गुरु मिले और फिर उन्होंने खींचा। फिर उनके व्यक्तित्व से, उनके विचारों से, उनके निर्णय वचनों से, मेरा मन खिंच गया और शंका उत्पन्न होने लगी।

एक-एक बात पढ़ते-सुनते कुछ बोध हुआ। फिर श्री पूरण साहेब की बीजक त्रिज्या लेकर पढ़ना शुरू किया। उसमें भी लगे कि क्या ये लोग खण्डन ही खण्डन कर रहे हैं लेकिन लगे कि आखीर है तो बुद्धि की ही बात। इस प्रकार कितने संतों, भक्तों और सद्गुरु के कहने-सुनने, ठोकर लगने से समझते-समझते तीन महीने में मैं समझ गया और समझने में पूरा संतोष हो गया।

जीवन की रहनी तो जिस ढंग की चाहिए परिवार में रहते-रहते ही उस ढंग की बन गयी थी। फिर सद्गुरु की शरण में साधना और आगे बढ़ी। अगर संत, भक्त और सद्गुरु न मिले होते तो ये सब उपलब्धियां कैसे मिलतीं। तब तो कुछ भी न होता और तब तो मैं कहीं और बह रहा होता। इसलिए उन सबका कितना बड़ा उपकार है।

संतों के द्वारा, गुरुजनों के द्वारा जो कहा जाता है वह निरर्थक नहीं जाता है लेकिन सभी महापुरुषों को एक कसक रहती है कि लोग समझ नहीं पा रहे हैं। वे व्यापक दृष्टि से समझते हैं और वैसे तो जिनको दूध का धोया आप कह सकते हैं, और जो पूरा निर्मल हैं उनको भी बुरा कहनेवाले लोग होते हैं। लेकिन वे बुरा कहकर स्वयं ही बुरा बन जाते हैं। बुरा कहनेवाले बुरा हैं ही तभी ऐसा कहते हैं और यह घटना सदा

से रही है और आगे भी रहेगी। जो अपना कल्याण चाहे वह इसी में तपे, घबराये न, क्योंकि आग में तपकर ही सोना निखरता है। आग में गलकर जब उसमें का मल छंट जाता है तब सोना का शुद्धरूप उपस्थित हो जाता है।

हीरा अपने ऊपर जब खराद सहता है तब उसकी कीमत दस गुना हो जाती है। देखो, जिस सभागार में हम लोग बैठे हैं उसमें एक-एक ईंट रखा गया है, एक-एक ईंट को ठोंका गया है, पीटा गया है और ऐसा करते-करते इतनी रगड़ाई-मंजाई होने पर यह खड़ा हुआ है। किसी को भी कहीं भी विकास का मुख देखने के लिए, कल्याणस्थिति और उच्च स्थिति पर पहुंचने के लिए सहना है। सहने के अलावा और कोई चारा है नहीं। कोई किसी के मन के भ्रम को दूर नहीं कर सकता। जिनके मन में जो भ्रम हो उसको वही दूर कर सकते हैं। हम अपने मन को ठीक रखें, मजबूत रखें। सत्य सदैव सत्य रहता है। सत्य कभी भी झूठ नहीं होता।

साहेब ने कहा है—

*साँचे श्राप न लागे साँचे काल न खाय।  
साँचहि साँचा जो चले ताको काह नसाय।।*

यह साखी सम्पूर्ण शास्त्र है। हमारी स्वतंत्रता किसमें है—इसी दशा में रहने में है कि सच्चाई पर हम चलें। हम अपने ही जीवन को देखें, अपने ही भीतर झाँकें और देखें कि मन के किसी कोने में कोई झूठ, कोई लिप्सा और कोई कामना तो नहीं है। अगर हमारे मन में कोई विकारी कामना और लिप्सा नहीं है, जीवन पवित्र है तब फिर डर किसका है।

सत्य पथ पर चलने में ही हमारी स्वतंत्रता है। दूसरे को समझाने में हमारी स्वतंत्रता नहीं है। सब लोग सत्य को समझ लें यह दावा हम कैसे कर सकते हैं। हम सत्य को समझें। हर आदमी हर समय मानो नशा में रहता है। अपने नशा को मारनेवाला ही साधक है। आदमी नशा के कारण जो नहीं कहना चाहिए उसको कहता है, जो नहीं करना चाहिए उसको करता है और जैसा नहीं सोचना चाहिए वैसा सोचता है। और यह

नशा सब पर है। इस नशा को जो मार लेता है वही कृतार्थ होता है। हमारी स्वतंत्रता इसी में है कि हम अपने नशा को मारें। दूसरे के नशा को हम नहीं मार सकते। हम दूसरे को रास्ता दिखा सकते हैं। अब वह देखना चाहे तो देखे और न देखना चाहे तो डूबे।

स्वयं में ही स्वतंत्रता है। हम बिलकुल ठीक हैं, ऐसा समझ लेना हमारे लिए ही उचित है। दूसरा ठीक है कि नहीं इसको समझना हमारे लिए उचित नहीं है। और यह जान लीजिए कि बिलकुल ठीक की दशा होती है क्योंकि बिलकुल ठीक की दशा न हो तो कृतार्थ अवस्था का जो उपदेश किया जाता है उसका केवल उपदेश मात्र ही रह जाये। कृतार्थ अवस्था होती है और उसका अर्थ है जो कुछ करना था कर लिया। तृप्तकाम, आप्तकाम, निष्काम, अचल स्थिति अभेद्य किला है। पवित्र रहनी अभेद्य किला है। यह कृतार्थ अवस्था अगर नहीं होती है तब तो जो उपदेश दिया जाता है वह केवल कहावत के समान ही है। जब सामान्य सदाचार तक ही जीवन है तब फिर कृतार्थता का नाम ही नहीं लेना चाहिए। तब तो यह कहा जाये कि भाई, सदाचारी रहो, नियम से रहो, नीति से चलो इतने तक ही उपदेश होना चाहिए लेकिन बात ऐसी नहीं है।

सदाचार और नैतिकता तो जड़ है उसके बिना उस स्थिति में हम पहुंच ही नहीं सकते। लेकिन सदाचार और नैतिकता से ऊपर भी एक स्थिति है जो कृतार्थ अवस्था है, तृप्त अवस्था है, निष्काम, निर्मान एवं पूर्णपद अवस्था है और वह जीवन में घटती है, उतरती है। कोई भी चाहे तो उस दशा में उतर सकता है। उसके लिए मेहनत करना होगा। उसी के लिए मेहनत करो, दूसरों को समझाने के लिए मेहनत न करो। अपना काम-धाम करो यह अलग बात है लेकिन सबको समझाने की मेहनत के चक्कर में मत पड़ो कि सब जान जायें। हम जान जायें कि हम ठीक हैं बस इतना काफी है।

कृतार्थ अवस्था होती है और उस कृतार्थ की अवस्था में स्थित होने पर कुछ भी त्रुटि नहीं होती है। लेकिन यह कथन भी सापेक्ष ही है कि कृतार्थ अवस्था

में कुछ त्रुटि नहीं होती है। उस अवस्था में त्रुटि नहीं होती है इसका मतलब है उसको भ्रांति नहीं होती है। वह अपने विषय में डांवाडोल नहीं होता है। सब समय वह मोक्ष को, निर्वाण को, कल्याण को देखता है लेकिन जहां तक व्यवहार की बात है उसमें त्रुटि उससे भी हो सकती है।

व्यवहार में कभी होता है कि भाई, यह काम ऐसे करना चाहिए तो कोई कृतार्थ आत्मा पुरुष ही वह काम करने चले तो हो सकता है कि उससे भी उस काम में गलती हो जाये। वह सोच ले कि यह काम ऐसे करना चाहिए लेकिन वह काम उस ढंग से करना ठीक न हो। व्यवहार वाले कार्य में तो ऐसा होता है कि काम करने की अच्छी तरकीब तक दिमाग नहीं पहुंचा। कभी-कभी तो ऐसा भी होता है कि एक ही आदमी किसी काम को करता है तो उस समय उसको वह ठीक लगता है लेकिन कुछ ही क्षण बाद उसको लगता है कि इसको इस ढंग से किया गया होता तो और ठीक रहता। पहला ढंग भी ठीक था लेकिन दूसरा ढंग और अच्छा है। इसलिए एक ही समय में व्यवहार वाली सारी बातों की याद प्रायः नहीं होती है। कहीं तो बिलकुल सही-सही लगेगा कि ठीक है और कहीं कर लेने के बाद लगेगा कि इस ढंग से करना बेहतर होता। लेकिन जो कल्याण का काम है, उसमें ऐसा भ्रम नहीं होता है। जो पहुंचा हुआ साधक होता है, जिसकी दृष्टि निर्मल है उसके चित्त में भ्रांति नहीं होती है। ऐसे ही पुरुष के लिए उपनिषद् के ऋषि कहते हैं—

*भिद्यते हृदय ग्रंथिश्च छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।*

*क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टि परावरे॥*

अर्थ है जिसके हृदय की गांठें कट गयी हैं। हृदय की गांठों के कटने का मतलब अन्दर हृदय में किसी नस-नाड़ियों का कट जाना नहीं है। लाक्षणिक अर्थ है हृदय में जो अहंता-ममता और वासना है वह कट गयी हैं। सारे संशय जिसके छिन्न हो गये हैं। कहीं दूर परमात्मा या मोक्ष-सुख मिलना है, कहीं पाना है ऐसा कुछ भी संशय नहीं रह गया है। जो पाना था पा लिया

है, जो होना था वह हो गया है। होना था कृतार्थ और वह हो गया और पाना तो कुछ है ही नहीं। केवल मन का कूड़ा-कचरा निकालकर अपने आप रह जाना है बस।

“क्षीयन्ते चास्य कर्माणि” उसके कर्म क्षीण हो जाते हैं। कर्म क्षीण होने के लक्षण क्या है? मन में कहीं भी खिंचाव न होना। दुनिया का जो सुख माना गया है, दुनिया की जो उपलब्धि मानी गयी है उसमें कहीं भी खिंचाव न हो। दुनिया की सारी उपलब्धि कूड़ा-कचरा से भरी और ठगनेवाली है। वस्तुतः वह हमें क्या ठगेगी, हम ही अपनी बेवकूफी से उससे ठगा जाते हैं। जब अपनी बेवकूफी पूरी मिट गयी तब उससे ठगाने की बात ही नहीं है। दोष किसी दूसरे का भी नहीं है। पद का दोष नहीं है, सम्मान का दोष नहीं है, प्रतिष्ठा का दोष नहीं है और भीड़ का भी दोष नहीं है। दोष हमारा है। हमारी बेवकूफी है और हमारी बालबुद्धि है। बालक को मिठाई दे दो, चमकते कपड़े पहना दो वह खुशी से मगन हो जायेगा लेकिन एक बुजुर्ग आदमी को यह सब दो तो वह हंसेगा और कहेगा कि यह क्या कर रहे हो।

बुजुर्ग को तो छोड़ दो, दस वर्ष का बच्चा भी हंसेगा और कहेगा कि तुम हमको खिलौना दे रहे हो लेकिन जो बच्चा है वह खिलौना पा जाये तो उसकी खुशी का क्या पूछना! वह खुशी के मारे मगन हो जायेगा। हम लोग भी अपने मन को देखें कि हमारा मन कितना बच्चा है। हमारा मन अगर पद पाकर खुश हो गया, धन पाकर खुश हो गया, पूजा पाकर खुश हो गया, गुरुवाई पाकर खुश हो गया, महंती पाकर खुश हो गया, किसी ने कहा कि आप बड़े अच्छे हैं यह सुनकर खुश हो गया तो यह भोलापन और बचपना है। अपने-अपने बचपना को हम देखें। दूसरे के बचपना को न देखें।

दूसरे के बचपना के प्रति तो हमें भ्रम हो सकता है और हो सकता है कि दूसरे का बचपना न भी हो, हम ही मान लिये हों कि उसमें बचपना है। क्योंकि दूसरे

को ठीक से समझना कोई मामूली बात थोड़े है। दूसरे को समझने के चक्कर में हम पड़ें ही क्यों। हम यह समझ लें कि दूसरे सब अच्छे हैं। इसी में हमारा कुशल है। हम केवल अपने बचपना को समझें। जो अपने बचपना को समझ लेता है और उसको छोड़ देता है उसके कर्म क्षीण हो जाते हैं। संसारी पदार्थों के प्रति आकर्षण ही बचपना है और जब सारे आकर्षण खत्म हो जाते हैं, जब चित्त निरंतर अनाकृष्ट रहने लगता है तब कर्मों की क्षीणता की स्थिति होती है। कर्म क्षीण होने का मतलब है खिंचाव न होना। काम भोग में, स्वाद भोग में, रुपये-पैसे में, मान-बड़ाई में, पूजा-प्रतिष्ठा में, सत्कार पाने में कहीं भी खिंचाव न हो। साधक अपने को देखे कि मेरा मन कहीं खिंच रहा है कि नहीं। अगर खिंच रहा है तो कर्म क्षीण नहीं है। बिलकुल अनाकृष्ट चित्त हो गया है, कहीं खिंचाव नहीं होता है तब सही दिशा में है। उसी के लिए ऋषि कहते हैं—“तस्मिन् दृष्टि परावरे”— उसकी दृष्टि आर-पार होती है। “परावरे” का मतलब है आर-पार।

कैमरे से जब हम किसी का चित्र लेते हैं तब बाल, वस्त्र, चाम इत्यादि के चित्र आते हैं और एक्सरे से जब चित्र लेते हैं तब यह सब कुछ नहीं आता है। तब केवल हड्डी का चित्र आता है। विवेकवान का चित्त एक्सरे हो जाता है। वह अन्दर के तथ्य का ही चित्र लेता है, वास्तविकता को समझ लेता है। सद्गुरु ने बीजक में कहा है—

*शब्द हमारा आदि का, पल पल करहू याद।*

*अंत फलेगी माहली, ऊपर की सब बादि।।*

ऊपर की सब व्यर्थ है। जो असली चीज है वह रहनी की चीज है। रहनी में जो टिक गया, स्थित हो गया, तब उसको ऊपर की सब चीजें व्यर्थ लगती हैं। कृतार्थ अवस्था, निष्काम अवस्था ही पूर्ण अवस्था है और उसका अधिकारी हर मनुष्य है। बस अपनी-अपनी कपट-कुटिलता, मलिनता, विषय विकार, भोगों की लालसा को छोड़ना है और केवल अपने को ही

छीलना और गढ़ना-बनाना है, दूसरे को नहीं। दूसरे को तो केवल राय दी जा सकती है।

सच्चे को कोई परेशानी नहीं होती है।

आप अगर संसार-सागर से तरना चाहते हैं तो दुनिया की चोट को सहना पड़ेगा। लोगों के द्वारा अपनी आलोचना को सुनकर सहना पड़ेगा। इसका कोई और चारा नहीं है। न सहो तो कच्चे तो हो ही, आगे भी कच्चे रह जाओ और फिर रोओ, बिलखो, राग करो, द्वेष करो, कलह करो, लड़ो-झगड़ो, वैमनस्य करो, पीड़ित और संतापित रहो। यही सब करो लेकिन यदि उद्धार चाहते हो तो खराद पर चढ़ो। लोगों के द्वारा अपने को खरादे जाने दो। लोग तुमको खूब खरादें, खूब रगड़ें। इससे कसर वाली चीज निकल जायेगी और शुद्ध चीज रह जायेगी। ऐसे व्यक्ति के चित्त में कोई परेशानी नहीं है। कोई उद्वेग नहीं है, कोई दुख नहीं है। हमें और आपको चाहिए कि इस कसौटी पर अपने को कसें।

पूरा संसार राग-द्वेष की आग में जल रहा है। तथागत बुद्ध जंगल में थे। दावाग्नि लगी हुई थी। उन्होंने कहा—“भिक्षुओ! यह दावाग्नि है। दव+अग्नि=दावाग्नि। दावाग्नि जब लगती है तो समस्त प्राणियों और वस्तुओं को भस्मसात करती हुई चली जाती है। वहां किसी के या कुछ के बच रहने की गुंजाइश नहीं रह जाती क्योंकि सब तरफ आग ही आग होती है।

यह सारा संसार राग-द्वेष की अग्नि में जलता हुआ मानो दावाग्नि की लपेट में है। सब जगह राग-द्वेष! राग-द्वेष!! राग-द्वेष!!! और हमें इसी के बीच में रहना है और इसी के बीच में अपना काम भी करना है। जिसके लिए आप राग-द्वेष करेंगे उसी के लिए राग-द्वेष होगा। अपने बच्चों के लिए लोग चोरी-बेईमानी करके, ठगाई करके, दूसरे को धोखा देकर चीजें इकट्ठी करते हैं फिर वे ही बच्चे अपने पिता का गला काटते हैं तब उसको लगता है कि मैंने गलत किया।

एक आदमी मिला। वह बहुत संतापित था। कहता था—महाराज, मैं इतना बड़ा मकान न बनाता तो कोई हर्ज न था। मैंने बहुत छल-छद्म करके पैसा बटोरा और मन में हुआ कि बच्चों के लिए मकान बनाऊं और बनाया भी लेकिन वे ही बच्चे हमारे दुश्मन बनकर बैठे हैं। मैंने जो पाप किया वही अब मुझे साल रहा है और जिनके लिए किया वे दूसरे ढंग से मुझे साल रहे हैं, पीड़ित कर रहे हैं। कैसा मैं उलझ गया, कैसा मैंने गलत किया। इसीलिए नीति में लिखा है कि अपने लिए पाप न करो, दूसरे के लिए भी पाप न करो। स्वजन और परिजन, किसी के लिए भी पाप न करो।

पाप करके जीवन बिताओगे तो जीवन तो चल जायेगा लेकिन आज और आगे जलना ही होगा और यदि सन्मार्ग में चलकर जीवन बिताओगे तो उसमें भी जीवन बीतेगा लेकिन आज और आगे उसमें सुख ही सुख है। इस बात पर हमें ठहरना चाहिए। अपने जिस शरीर के लिए हम सबकुछ करते हैं वह शरीर ही हमें रुलाता है। बीमारी में पड़कर हमारा शरीर हमें रुलाता है। ऐसी-ऐसी बीमारी आ जाती है कि उठ-बैठ नहीं मिलता है, करवट भी नहीं बदल मिलता है। उस समय हमें इस शरीर से कितना कष्ट होता है। जिस शरीर के लिए हम पाप करते हैं वह शरीर ही हमें दुख देता है। इसलिए किसी चीज के लिए भी पाप न करे और अपने को सबमें से निकाले रहे। यही सच्ची साधना है।

एक वैष्णव संत ने मुझसे कहा था कि महाराज, कुछ साधना बताइये। तब मैंने विचार की बात कहना शुरू किया। वे सुने फिर कहने लगे कि हां, है तो ऐसा ही लेकिन साधारण लोगों के लिए क्या किया जाये। उनके लिए तो "जै-जै सियाराम, जै-जै सियाराम" ही ठीक है।

मैंने उनसे कहा कि महाराज, आप "जै-जै सियाराम" ही करो। आप तो अपने लिए पूछे, साधारण के लिए तो पूछे नहीं और साधारण लोगों के लिए "जै-जै सियाराम" ही नहीं है बल्कि और भी है। कोई मुसलमान चाहे कितना भी साधारण हो "जै-जै सियाराम" नहीं करेगा। वह तो नमाज पढ़ेगा और

नमाज पढ़ता है तो ठीक ही करता है क्योंकि कुछ तो करता है। नमाज पढ़ते समय वह उठता है-बैठता है। एक अलौकिक शक्ति मानकर, मन की अवधारणा करके उसपर चित्त लगाता है तो दुनिया से उसका चित्त हटता है। है तो उसकी अवधारणा ही लेकिन उसकी वह अवधारणा अच्छी है। यह परोक्ष में मन लगाना है और प्रत्यक्ष से हटने का साधन है इसलिए अच्छा है। तो सभी साधारण लोग 'जै-जै सियाराम' नहीं करेंगे। वे तो अपने-अपने ढंग से कुछ करेंगे। मेरी इन बातों को सुनकर वे हंसने लगे।

साधना का जो राजपथ है वह है तत्त्व विवेक। तत्त्व विवेक का अर्थ है अंतिमी सत्यता। पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि आदि जड़ तत्त्वों को तत्त्व क्यों कहा गया क्योंकि ये सत्य हैं। चेतन तत्त्व को भी तत्त्व कहा गया क्योंकि यह अंतिम सत्य है। साहेब ने कहा है—“जो चाहो निज तत्त्व को, शब्दहि लेहु परख।” निज तत्त्व माटी, पानी, आग और हवा नहीं है। माटी, पानी, आग और हवा तो जड़ है। निज तत्त्व आत्मा है, जिसके जीव, रूह, सोल अनेक नाम हैं। तत्त्व का अर्थ होता है अंतिमी सत्यता और अंतिमी सत्यता की यह साधना है।

अंतिमी सत्यता क्या है। उसका भी विभाग-विभाग के अनुसार अलग-अलग अर्थ है। जिस विषय में आप सोचें तो उस विषय में गहराई तक जायें तब अंतिमी सत्यता का बोध होगा। जो उपलब्धि है उसकी अंतिमी सत्यता क्या है? जीवन में उसका प्रयोग कर लो क्योंकि वह खत्म हो जानेवाला है। जैसे यहां कोई एक परातभर मिठाई लाकर रख दे तो उसकी अंतिमी सत्यता क्या है। यही है कि उसको बांट दिया जाये जिससे सब लोग खा लें बस। वह पानी बनकर, पेशाब बनकर, टट्टी बनकर निकल जायेगा। उसका सार तत्त्व शरीर में रह जायेगा जिसका शरीर के द्वारा कुछ उपयोग हो जायेगा और वह भी एक दिन खत्म हो जायेगा। यही अंतिमी सत्यता है। जब ऐसा है तब इसके लिए हम लालायित क्यों हों। नहीं मिठाई मिलेगी ककड़ी ही मिल जायेगी। मिठाई से ककड़ी अधिक अच्छी है। रोटी-सब्जी तो मिल ही जायेगी। हम क्यों लालायित हों।



यह जो सभा है इसकी अंतिमी सत्यता क्या है। यही कि यहां से प्रेरणा लेकर अपने मन को शोधने का काम करें। यही इसकी अंतिमी सत्यता है। जो जहां रहते हैं वहां रहकर साधना करें। अंत में यह सभा खत्म हो जाने वाली है। लाभ है इस सत्संग और साधना से प्रेरणा लेकर अपने मन को संवारना और फिर सभा का विसर्जन यह अंतिमी सत्यता है। किसी से मिलने की अंतिमी सत्यता होनी चाहिए मधुरता। हम आप मिलें तो ऐसा व्यवहार करें कि हम और आप जब बिछुड़ें तो एक मधुरता का आभास हो। ऐसा न हो कि कहीं कटुता का आभास होने लगे। इससे तो आत्मा पीड़ित होगी।

हम किसी से मिलें और अहंकारवश कटु बोल दिये तो यह मिलने की अंतिमी सत्यता नहीं हुई। हम मिलें तो हमें भय हो कि 'इनसे' तो हमारी प्रतिष्ठा चली जायेगी या और भी जो बड़ा-बड़ा भ्रम है वह हो जाये। मैंने अभी कहा था कि हर आदमी हर समय नशा में रहता है। उसको भ्रम हो जाता है और समझ नहीं पड़ता है कि क्या होना चाहिए। वह कुछ का कुछ सोच लेता है और यह व्यवहार में तो होता है लेकिन रहनी के विषय में आदमी बिलकुल निर्भ्रांत हो सकता है। व्यवहार के विषय में त्रुटियां हो सकती हैं लेकिन जिसकी दिव्य दृष्टि होती है, साधना में जिसकी पूर्ण अवस्था है उसको रहनी में भ्रम नहीं होगा। हमें कैसे रहना चाहिए, मन को कैसे रखना चाहिए इसमें उसको भ्रम नहीं होगा। हर समय वह निर्मल दशा में रहेगा।

हमें रहनी की सच्चाई समझ में नहीं आती है क्योंकि हमारे में नशा है। हमारे में काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, तृष्णा अनेक प्रकार के विकारों का नशा है। विकारों की तो गिनती ही नहीं है लेकिन जितने विकार हैं सब राग-द्वेष के अंदर आ जाते हैं। राग और द्वेष के ही बच्चे सारे विकार हैं। इसलिए जबतक राग-द्वेष का खात्मा नहीं होता, तब तक दिव्य दृष्टि नहीं होती है। हमारी दिव्य दृष्टि होनी चाहिए और यह दिव्य दृष्टि कोई दे नहीं सकता। पुराणों की कथाओं में तो बहुत आता है कि गुरु ने छू लिया तो दिव्य दृष्टि हो गयी। यह सनसनीखेज बात है। क्या छू लेने मात्र से कुछ

होता है। हां, कुछ समय के लिए एक भावनात्मक प्रभाव पड़ सकता है फिर उसके पीछे साधना करना पड़ेगा।

मुझे याद है कि एक बार मैं बड़हरा के भंडारे में गया था। हो सकता है कि यह पहली बार या दूसरी बार की बात हो। मैं गुरुजी के पास बैठा तो वे बोलने लगे और मैं मस्त होकर एकदम तन्मय हो गया। बाहर की मेरी सुधि-बुधि मानो भूल गयी। तब साहेब मुस्कराये और कहे कि देखो तुम मुक्त हो गये। अब चारों तरफ से तुम निर्द्वन्द्व हो गये। गुरुवचन से मोक्ष होता है इसका यही अर्थ है लेकिन जब यहां से उठो तो ऐसी ही मनोदशा बनाये रखो यह तुम्हारी जिम्मेदारी है।

पारखी संत ऐसी बात नहीं कहते हैं जो विवेकपूर्ण न हो। वे ऐसा नहीं कहे कि देखो अब मैं तुमको मुक्त कर दिया और अब तुम मुक्त हो। उन्होंने एक असलीयत कह दी कि देखो अब तुम मेरी बातों में तन्मय हो गये। बाहरी बात तुम्हें भूल गयी और तुम एकदम निर्द्वन्द्व हो गये तो मुक्त हो गये। गुरुवचन से तुम मुक्त हो गये लेकिन यहां से जब उठोगे तब फिर तुम्हारे संस्कार उदय होंगे। लोग तुम्हें मिलेंगे। कोई कुछ कहेगा, कोई कुछ कहेगा और वहां तुम्हारा मन भटक जायेगा।

गुरु का उपदेश पाकर शिष्य मुक्त हो जाता है। उसका अर्थ यही है कि अगर वह अपने मन को पूर्णरूप से गुरुपदेश में लगाता है तो मुक्त हो जाता है। लेकिन गुरु उपदेश जब बन्द हुआ और वह वहां से उठा तो उस मुक्ति को संभालना उस शिष्य का काम है। वह उसको संभाले और वह रहनी से ही संभलेगा। एक बार के उपदेश कर देने से नहीं संभलेगा।

हर कथन का एक पक्ष होता है। कुल मिलाकर हमें अपने आप को सब समय खराद पर चढ़ाये रखना है। "नित खरसान लोहा घुन छूटे, नित की गोष्ठ माया मोह टूटे" यह साहेब ने कहा है। सान पत्थर पर लोहे के औजार को चढ़ाने पर लोहे का मुर्चा झड़ जाता है जिससे वह औजार चमकने लगता है और धारदार हो जाता है। ऐसे ही नित्य के सत्संग में चलने से अपने

मन का मुर्चा झड़ता है। यह काम करने में हर इंसान स्वतंत्र है। वह सेवा करे, साधना करे और कल्याण करे तो फिर दूसरा उसको क्या तकलीफ दे सकता है लेकिन हम स्वयं सेवा न करें, साधना न करें और हमारी भावना हो कि चारों तरफ से हमारी पूजा हो, सत्कार हो तो हम सड़ेंगे क्योंकि यह पूजा-सत्कार बहुत ही हानिकर है। जो पूजा-सत्कार करते हैं उनकी श्रद्धा है और अगर वे श्रद्धा से पूजा-सत्कार करते हैं तो उनका चित्त पवित्र होता है लेकिन जो पूजा-सत्कार पाता है उसमें यदि पूजा-सत्कार को हजम करने की शक्ति न हो तो भारी पतन है।

अनादि काल से जीव विषय-कीट है। हम सफेद कपड़ा पहन लिये, अचला-लंगोटी पहन लिये तो हम संत हो गये इस धोखे से हमें बचना चाहिए। यह तो गुरु मर्यादा है। हम संतों में आये। कुछ दिन में ब्रह्मचारी वेष हुआ और कुछ दिन में साधु वेष हुआ। सदाचार है, गुरुजनों के परखने में आता है कि इनमें सदाचार है, ये सेवापरायण हैं, साधनापरायण हैं, अच्छे हैं। कोई कलह और राग-द्वेष वाले नहीं हैं तब साधुवेष हो गया लेकिन साधुवेष हो जाने पर यह मान लेना कि काम पूरा हो गया, भारी धोखा है।

सामान्य सदाचार और साधुवेष हो जाता है तो इतने मात्र से काम पूरा नहीं हो जाता है। यद्यपि सामान्य सदाचार तो भूमिका है उसके बिना तो कुछ भी न होगा। इसीलिए जिन साधुओं के प्रति मेरी जिम्मेदारी है, जो यहां के साधु हैं उनसे मैं कहा करता हूं कि तुम लोग सामान्य सदाचार और नैतिकता का पालन करो। उसमें कोई कसर न रहे।

सब साधु सही दिशा में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करें। वे घर छोड़कर आये हैं तो घर में किसी का राग न हो। वहां से पूर्ण विरक्त रहें। मैं कहता हूं कि जितने लोग यहां हो एक दूसरे में राग-द्वेष न करो। दूसरे की त्रुटि देखने की आदत न बनाओ। जिसमें त्रुटि नहीं है उसमें त्रुटि की कल्पना करके कहना तो महापाप है लेकिन कभी थोड़ी-मोड़ी त्रुटि हो ही गयी तो उसका सुधार करो। “सो सुधारि हरिजन इमि लेही, दलि दुख

दोष विमल जस देही” संतजन दूसरे की त्रुटियों को सुधारकर उनको रास्ते पर लगाने की चेष्टा करते हैं। आपस में प्रेम, समता, शील का बरताव यह सब करो क्योंकि यही मौलिक आधारभूमि है फिर ऊपर जीवन्मुक्ति तक चढ़ो। जीवन्मुक्ति अंतिम मंजिल है। जो जितना कर पाये उतना करे।

सभी साधकों के लिए, सभी गृहस्थ-भक्त और साधु के लिए जीवन्मुक्ति ही अंतिम मंजिल है। “जीवन्मुक्ति” शब्द से घबराना नहीं चाहिए कि यह तो एक भारी शब्द है। हम तो गृहस्थ हैं, भला हम जीवन्मुक्ति कैसे कर सकेंगे। यह न सोचो। जीवन्मुक्ति का अर्थ है—जीते-जीते राग-द्वेष रहित होकर निर्मलचित्त हो जाना और यह कमाई का फल है। कमाई से यह होगा। यह केवल साधु के कपड़ा में हो जाने से न होगा। साधु का कपड़ा हम पहन लिये तो क्या इतने से हम जीवन्मुक्त हो जायेंगे। पूजा हमारी होने लग जायेगी और हम ऊंचे बैठाये जाने लगेंगे तो क्या इससे हम मुक्त हो जायेंगे।

कितने ऐसे विषयी पामर हैं जिनका सत्कार लाखों-लाखों की भीड़ में होता है। इसलिए पूजा-सत्कार होना हमारी कोई विशेषता नहीं हुई। हमारी विशेषता तो है चित्त की निर्मलता और यह काम करने में सब स्ववश हैं। इसलिए मैं इन लोगों से यही चाहता हूं और कभी-कभी इन लोगों से कहता भी हूं कि तुम लोगों में जो सामान्य सदगुण हैं वे जरूर होने चाहिए जैसे ब्रह्मचर्य का पालन, घर से विरक्ति, संयम, खान-पान में संयम, परस्पर में प्रेम, समता, एक दूसरे से राग-द्वेष न करना, किसी में त्रुटि न देखना, कलह न करना, शील और समता से रहना। यह बहुत आवश्यक है। इतने में यदि त्रुटि होगी तब नहीं चलेगा। इसलिए इतने में कोई त्रुटि न हो लेकिन यहीं तक नहीं रहना है बल्कि यहां से और ऊपर उठना है। हृदय के राग-द्वेष को पूर्णतः दूर करके कृतार्थ आत्मा होना है। वह सबके लिए उपदेश है। सब कृतार्थ आत्मा होओ, जो जितना कर पाओ करो लेकिन अगर सामान्य नैतिक स्थिति और सदाचार से नीचे उतरे तो यहां रहने की कोई गुंजाइश नहीं है।

साँचे श्राप न लागे, साँचे काल न खाय।

साँचहि साँचा जो चले, ताको काह नशाय।।

साहेब कहते हैं कि साँचे को श्राप नहीं लगता है। साँचे को काल नहीं खाता है। आप डरें न, घबरायें न। केवल आप सत्पथ पर चलें तो पूरी दुनिया एक होकर आपको झुका नहीं सकती है किन्तु सच्चे पथ पर यदि न चले तो पूरी दुनिया मिलकर आपको ऊपर उठा नहीं सकती।

सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः।

सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परमपदम्।।

यह बात बालमीकि जी ने महाराज राम से कहलवायी है। इस लोक में सत्य ही ईश्वर है। महात्मा गांधी जी बारम्बार यह कहा करते थे कि इतनी साधना के बाद मुझे बाहर किसी ईश्वर के दर्शन नहीं हुए। इसलिए मैं इस मंजिल पर पहुंचा हूँ कि सत्य ही ईश्वर है। जीवन को सत्यमय बनायें। सत्य रहनी में रहें। यही ईश्वरता है।

सत्य ही धर्म है और वही सबका आश्रय है। जो सत्य है उससे बढ़कर कोई परमपद नहीं है। आप “सत्य-सत्य” तो कह गये यह बहुत बढ़िया है लेकिन “सत्य” शब्द का शब्दार्थ क्या है। इसका एक तो व्यावहारिक अर्थ है कि झूठ न बोलो, किसी को धोखा मत दो। राग-द्वेष में न पड़ो। यह सब मार्ग है लेकिन सत्य पदार्थ क्या है। सत्य वह है जो सत्य के विषय में जिज्ञासा करता है, जो बोलता है वही खुद सत्य है।

एक बार संत ईसा के एक शिष्य ने उनसे पूछा था कि सत्य क्या है? उस समय तो उन्होंने उत्तर नहीं दिया लेकिन दूसरे समय उन्होंने कहा कि मनुष्य स्वयं सत्य है। उन्होंने यह बहुत बढ़िया बात कही। जो सत्य चाहता है वही खुद सत्य है।

आपकी सत्यता के समान आपके लिए और सत्य क्या हो सकता है। अगर आप स्वयं असत्य हैं तो आप क्या पाना चाहते हैं। आप स्वयं सत्य हैं और आपके समान आपके लिए कुछ सत्य नहीं है। अपने को ठीक करो। अपने मन को सत्य बना लो। मन को ठीक कर लो। सत्य की भूमिका में टिक जाओ। आप स्वयं सत्य

हैं। इसलिए आप अपने मन, वाणी, कर्मों को सत्य में रंग दें, ओत-प्रोत कर दें तो आप सत्य में स्थित हो जायेंगे। तब अपने आप में आपकी स्थिति हो जायेगी। इस अवस्था की जब प्राप्ति हो गयी तो यही कृतार्थ अवस्था है।

इस प्रसंग का जितना विस्तार है सबका सार यह है कि किसी व्यक्ति को, किसी साधक को चिंता नहीं करनी चाहिए कि दूसरा हमें क्या कहता है। उसे तो बस सत्य पर चलना चाहिए। सत्य पथ पर अगर वह है तो कोई उसका नुकसान नहीं कर सकता है। जितने नुकसान करने वाले हैं सब मुंह के बल गिरेंगे और बरबाद हो जायेंगे। पवित्र व्यक्ति को अगर कोई अपवित्र कहता है तो यह उसका भयंकर पाप है और वह पाप उसे ही खायेगा। उससे पवित्र व्यक्ति का कुछ नुकसान नहीं होगा। इसलिए आप इसके लिए लालायित मत रहो कि लोग हमको अच्छा समझें। अच्छा कहलाने की चेष्टा नहीं होनी चाहिए किंतु अच्छा होने की चेष्टा होनी चाहिए।

हमें अपने जीवन में इस बात का ध्यान देना चाहिए। हम खाने बैठे हैं तो कोई प्रपंच की बात नहीं होनी चाहिए। सोने चलें तो सोने के पहले प्रपंच नहीं होना चाहिए। इस पर आप ध्यान दीजिए। कोई प्रपंची बात हो तो सोने के पूर्व उसकी चर्चा मत करो। नहीं तो सोने में व्यवधान हो सकता है। उसकी चर्चा अन्य समय में कर लो लेकिन सोने के समय में न करो।

आप किसको समझाना चाहते हैं। जिनको समझना होगा वह स्वयं समझेंगे। सत्य सदैव ऊपर होता है।

इसलिए किसी भी साधक-साधिका के जीवन में जो द्वन्द्व आये, उससे वह घबराये न। घबराने से काम न चलेगा। जरूरत है समझने की और समझकर दृढ़ रहने की। अपने में त्रुटि हो तो उसको निकालना चाहिए। अपने में यदि त्रुटि नहीं है तो सही दशा में रहना चाहिए और निर्भय रहना चाहिए। सत्य निर्भय होता है। जो सत्य रहनी में रहेगा वह निर्भय रहेगा। इन्हीं शब्दों के साथ और अपनी मंगल कामना के साथ मैं अपनी वाणी को विराम देता हूँ।